निबन्धमालादर्श

अर्थात्

स्वर्गवासी श्रीयुत पण्डित विष्णुकृष्ण शास्त्री
चिपलूनकर लिखित निबन्धमाला का अनुवाद

जिसको

नागपुरनिवासी श्रीयुत पण्डित गङ्गाप्रसाद
जी अग्निहोत्री ने हिन्दी में लिखा

दूसरी बार

लखनऊ

सुपरिंटेंडेंट बाबू मनोहरलाल भार्गव बी. ए. के प्रबन्ध से
मुंशी नवलकिशोर सी. आई. ई. के छापेखाने में छपा
सन् १९०४ ई०

भूमिका।

क्लेशो फले नहि पुनर्नवता विधत्ते।

विज्ञ पाठकगण, वर्तमान कृतविद्यलोगों की सम्मति है कि अपनी परोपकारिणी विद्या तथा बुद्धि सामर्थ्यसे अपनी मातृभाषा की जो उन्नति अंगरेज विद्वान् मेकॉले तथा बेकन साहिब प्रभृतिने की है वही उन्नति स्वर्गवासी श्रीयुत पण्डित विष्णुकृष्णशास्त्री चिपलूनकरने अपनी जन्मभाषा मराठीकी की है। यहांपर इनके पाण्डित्य का विशेषरूप से परिचय देने की कोई आवश्यकता नहीं जान पडती क्योंकि वह इनके लेखोंके पद पद में झलकता है। इनके लेखों की सुरसता, शिक्षादातृत्व तथा मनको सुसंस्कृत करनेकी शक्ति जैसीही कार्यकारिणी है वैसीही लेखप्रणाली सरल एवं सुबोध है, यही कारण है कि उनकी निबन्धमाला आजदिन बडे उत्साह और चावके साथ पढ़ी पढाई जाती है। जिन विद्यारसिक कृतविद्यलोगों ने निबन्धमाला को स्वयं पढ़ा है वा अपने मित्र तथा अन्य साधनों द्वारा उसकी प्रशंसा सुनी है वे सब एक स्वर से उसकी परमोपयोगिता अङ्गीकृत करते है। निबन्धमाला में शास्त्रीजी के लिखे हुए लगभग ३५ विषयोंपर लेख छपे हैं। इनमें से कुछ लेख तो ऐसे हैं जो एक देशीयही है अर्थात् मराठी पाठकों के लियेही लिखे गये है और शेष वैसे नहीं है क्योंकि उन में किंचित् परिवर्तन करनेसे वे सर्वसाधारण को एक से उपयोगी हो सकते हैं। चिरकाल से हमारी इच्छा थी कि हम सर्वोपयोगी लेखोंको हिन्दी में यथोचित परिवर्तनके साथ अनुवादित कर हिन्दी के रसिक तथा गुणग्राही पाठकों की सेवामें भेंटकरें; पर कई प्रतिकूल कारणों के योग से वह आजपर्यन्त न होसका। अस्तु, आज

हम अपनी और तथा अपने हिन्दीहितैषी सहृदय पाठकों की ओर से हिन्दी के उन्नायक सुयोग्य मुन्शी श्रीयुत प्रयागनारायण साहिब नवलकिशोर मुद्रणयन्त्राधीश को अनेकानेक हार्दिक धन्यवाद देते हैं कि जिनकी सहायता से हमारी उक्तचिरलालसा और परिश्रम को अंशतः सफलता प्राप्त हुई; अर्थात् हमारे लेख हिन्दी के पठित समाज की सेवामें उपस्थित किये गये। अब यदि यह लेख पठित समाजद्वारा उपयोगी स्वीकृत हों तो हम समझलेंगे कि हमारे परिश्रम पूर्णरूप से सफल होगये; और यदि हो सकेगा तो और लेखभी यथावकाश अनुवादितकर पाठकों की सेवा में भेंट करेंगे।

विद्वान् लोगोंपर यह बात भली भांति प्रकाशित है कि स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखने की अपेक्षा किसी ग्रन्थका अनुवाद करना अधिक क्लिष्ट कार्य है। तिसपरभी मुझ कैसे मनुष्यके लिये कि जिसे ग्रन्थलेखनादि विषयोंका अणुमात्रभी अनुभव नहीं है, वह अधिकतम क्लिष्ट है। इन सब बातोंका पूर्ण विचारकर सज्जनलोग अनुवाद दोष के लिये हमें क्षमाप्रदान कर उसे भविष्यतमें सुधारनेकी सूचना दे हमें अनुगृहीत करेंगे।

खंडवा
मध्यप्रदेश
७–१२–६८

गंगाप्रसाद अग्निहोत्री
(नागपुर निवासी।)

निबन्धमालादर्शका

सूचीपत्र ॥

निबन्धमालादर्श ॥

विद्वत्त्व और काव्यत्व।

सौवर्णानि सरोजानि निर्मातुं सन्ति शिल्पिनः।
तत्र सौरभनिर्माणे चतुरश्चतुराननः ॥ × ॥

काव्यविवेचना के ग्रन्थ अंगरेजी की नाईं संस्कृत में भी न होने के कारण काव्य का यथार्थरूप, कविके आवश्यक गुण, काव्य ईश्वरदत्त है वा परिश्रमाधीन है आदि विषयों का निरूपण किया हुआ उसमें कहीं दीख नहीं पडता। इससे हमारा अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि उक्त विषयों का विवरण संस्कृत में कहीं कुछ पायाही नहीं जाता। साहित्य, काव्य तथा नाटकादि ग्रन्थों में उक्त विषय के बडे गहन एवं सारगर्भित विचार प्रदर्शित कियेहुए दीख पड़ते हैं। जिस हमारे देश की भाषा का वैभव प्रधानतः कविता ही है, और जिसमें वह ऐसी परिपक्वदशा को प्राप्त हुई दृष्टिगत होती है, वहां के लोगों के मन में उक्त विचार प्रादुर्भूत हो जहां तहा उल्लिखित हुए पाये जाते हैं यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। यदि वैसा न हुआ होता तो अलबत्ते आश्चर्य की बात थी! तौभी इस विषय की विवेचना इंग्लैंडादि देशोंमें जिस प्रकार हुई वैसी इसके पूर्व कहीं-अर्थात् हमारे देश वा इटाली, ग्रीसादि देशों में भी न हुई होगी ऐसा कहा जासकता है। हमारे यहा तो अब

× सुवर्ण के कमल शिल्पीगण बनालेंगे, पर उनमें सुगन्ध निर्मित करना केवल विधिकेही आधीन है ॥

इधर इस काव्य विवेचन * शास्त्र का लोपही होगयासा है। हमारे केवल संस्कृत के पण्डितों को काव्यकी अभिरुचि प्रकार की रहती है सो उनकी कविता, टीका और सभा में बड़े २ कवियों के कहेहुए पद्यों के कथनोपकथनद्वारा स्पष्टरूप से जानी जासकती है। योरोप के सामान्य पण्डितगण हमारे काव्य को जिसप्रकार समझबूझ सकते हैं वैसे हमारे बडे २ शास्त्री हानेवाले भी नहीं समझ सकते, यह कहते हम तनिक भी नहीं हिचकते कि हमारे काव्य के अलौकिक आनन्द का अनुभव करना यह दूरदेशस्थ लोग हमें यदि न सिखाते तो वह हमें कदापि प्राप्त न हो सकता। सारांश इस शास्त्र में जिसे उत्तमगति प्राप्त करनी हो उसे उचित है कि वह इस विषय के अंगरेजी ग्रन्थों का अवलोकन करे और संतत उनका मननकरे। अंगरेजी के ग्रन्थोंद्वारा उसे काव्य के मर्म जाननेकी उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त हो लोकोत्तर आह्लाद प्राप्त करने का एक साधन उसके स्वाधीन होजायगा।

(२) हमारा यह अभिप्राय नहीं है कि इस लेखमें हम काव्य का सविस्तर विवरण करें। इस लेख में हम इतनाही दिखाना चाहते हैं कि कवित्व और विद्वत्त्व में निसर्गतः कोई सम्बन्ध है, वा

* बनारस के साहित्यसुधानिधि को जब श्रीयुत बाबू जगन्नाथदासजी बी.ए. (उपनाम रत्नाकरकवि) सम्पादित करते थे तब आपने उक्त पत्र में साहित्यरत्नाकर नामक ग्रन्थ प्रकाशित करने का विज्ञापन दिया था। और उसका काव्यनिरूपण सञ्ज्ञक एक खण्ड लिखकर प्रकाशित भी किया है। इस ग्रन्थ से हिन्दीमें उक्त त्रुटिके पूर्ण होने की बहुत कुछ आशा थी, पर खेद का विषय है कि हमारे विद्वानों के पठनपाठनोत्साह की मन्दता के कारण उक्त पत्र को अन्तर्धान होना पड़ा और उसी के साथ उक्त ग्रन्थ की पूर्णता भी अन्तर्हित होगई। पर तो भी उक्त बाबूसाहब यदि चाहें तो उक्त ग्रन्थ पूर्ण होसकता है। और हम उक्त बाबूसाहब को यही परामर्श देते हैं कि आप उक्त ग्रन्थ पूर्ण करने के लिये अवश्य उद्योग करें॥

नहीं,-अर्थात् जो व्यक्ति विशेष कवि हो उसे विद्वान् होनाही चाहिये ऐसा प्रकृति का नित्य विधानहै वा अन्यथा भी है ! इस विषय का बोध होनेके लिये केवल हिन्दी जाननेवालोंके अर्थ कहीं कुछ लिखापढ़ा गया हो सो बहुधा दीख नहीं पडता; अतः यह विषय नूतन होनेके कारण उन्हें विशेष रोचक जानपडेगा ऐसा समझकर उसके विषय में यहा पर कुछ लिखा जाता है।

(३) अब प्रथमतः संक्षेप से कविता के विषयमें आलोचना करते हैं। कविता के यथार्थरूप को जाननेवाले लोग अभी भी हमारे यहा बहुतही थोड़े पायेजाते हैं। इसका कारण यही जान पडताहै कि प्रायः लोग उसके विषय में सम्यक् विचार नहीं करते और यह विचार करने की शक्तिभी बहुत थोड़ेही लोगों को है, यही कारण है कि इस विषय में उनकी सम्मति सदैव भिन्न २ रहती है। जो बिलकुल अबोधहैं वे लोग तो यही समझते हैं कि छन्दोबद्ध पदरचनाही कविता है। इस पद्यरचना का विषय चाहे सो हो ! अमरकोश के श्लोक भर्तृहरि की कारिका, वाग्भट्ट के वैद्यक विषयक श्लोक आदि को वे लोग कविताही मानते है। कल बाजारके पदार्थों के मूल्य का कोष्ठक यदि कोई कवि पद्यरूप में बनावेगा, तो उस कोष्ठको भी वे लोग 'रघुवंश' और शेक्स-पियर के नाटक के सदृश काव्य में परिगणित करेंगे। अभिप्राय यह है कि बहुतेरे लोग कविता के सतत के वेष कोही कविता का स्वरूप मानने लगतेहैं। यदि वह गद्य का वेप धारणकरे वा गद्य उसका वेपधारण करे तो वे लोग दोनों की परीक्षा में धोखा खातेहै। और जो लोग उक्त लोगों की अपेक्षा सज्ञान है वे समझते है कि जिस पद्य में यमक और अनुप्रासादि की अधिकता होती हैं वही उत्तम कविता है। यह परीक्षा ठीक वैसीही है जैसे

कि कोई स्त्रियों की सुन्दरता उनके आभूषणों को देख [illegible] करे। ये लोग जिस कवि की कविता में यमककी प्रचुरता पाते उसके विषय में कहने लगतेहैं ऐसा कवि न हुआहै और न होगा। पर वे लोग इस बातको नहीं समझ सकते कि यमक और प्रासों की अधिकता यद्यपि एक प्रकार की बुद्धि का प्रदर्शकहै पर बुद्धि और कवित्व एकही नहीं है। जैसे यह कोई सिद्धान्त नहीं है कि जो मनुष्य अष्ट वा अष्टादश अवधान साधसकता है वह महान् बुद्धिमान् होताही है, वा जो मल्लविद्या में अत्यन्त निपुण होताहै व प्रचण्ड शूर रहता है; अतः सेनानायक के पद के योग्य ही रहताहै। वैसेही बडे २ यमक तथा चमत्कृतिजनक प्रासों के जोडने को कवित्व का दर्शक मानना व्यर्थ एवं विफल है। अत यह बात सचहै कि यमक प्रासादि संपन्न पद्योंको पढनेसे मनको बहुत चमत्कार जानपडताहै, पर वह चमत्कार ठीक वैसाही होगा जैसा कि उक्त उभय मनुष्योंकी कृति को देखकर अनुभूत होगा। उससे यथार्थ उपयोग बहुतही थोडा है अर्थात् कुछ कालतों मन को कौतुक जानपड़ेगा इससे अधिक और कुछ न होगा! उक्त लोगों की अपेक्षा उच्चश्रेणी के लोग वे हैं जो श्लेष और दुर्विदग्धता-प्रिय होते हैं। इस तीसरी श्रेणी में पुराने शास्त्रीगण समाविष्ट हो-सकते हैं। इन लोगोंको यथार्थ कविता की रमणीयता और उसकी मुग्ध विलासिता का परिज्ञान बहुतही थोड़ा रहता है। न्याय मीमा-सादि शास्त्रोंकी युक्ति प्रयुक्ति तथा पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष संपादनकी पटुता संपन्न इन प्रचण्ड मल्लोंका भयावनारूप देखते ही विचारी कविता थरथर कांपने लगती है। वह इन हठशील लोगोंके चुंगलमें छपडते ही मृतप्राय होजाती है। क्योंकि ये लोग उसकी परीक्षा शास्त्रवाद प्रतिवादानुसार करते हैं अर्थात् युक्तिप्रयुक्तिद्वारा उसका खण्डन

मण्डन करतेहैं । खींचाखींचकर पदोंकी*मनमानी व्यवस्था करते हैं और तदनुसार उनके अर्थ भी चित्र विचित्र करते हैं । शृङ्गार का वैराग्य और वैराग्य का शृङ्गारपूरित ऐसा चमत्कारिक अर्थ करते हैं जो विचारे कवि के ध्यान में कभी स्वप्नावस्था में भी न आया होगा । यथार्थ में ग्रन्थकी दुर्दशा करना इसी को कहते हैं । संस्कृत में शङ्कराचार्यकृत 'आनन्दलहरी' और 'अमरुशतक' नामक दो काव्य बहुत प्रसिद्ध हैं । इन दोनों में शृङ्गार का विषय वर्णित है । पर हमारे पण्डित लोगों को शब्दों की प्रसन्नार्थता और एकार्थता कदापि स्वीकृत नहीं होती । यही कारण है कि एक पण्डितजी ने अपनी तीव्र एवं प्रखरबुद्धि के योग और एकाक्षरी कोश की अनूठी सहायता से उक्त काव्य के शब्दों की शृङ्गारता नष्टकर उसे वैराग्य का काव्य बना दिया । इसी प्रकार जिन लोगों ने भाषा काव्यके अद्वितीय ग्रन्थ तुलसीकृत रामायण की टीका कर एक एक पद्य के बीस २ पचीस २ अर्थ किये हैं उन लोगों के विषय में यही समझना चाहिये कि उन लोगोंने एक सर्वोत्कृष्ट काव्य की सुन्दरता नष्ट करने के लिये अपनी बुद्धि और समय का अपव्यय किया है । इन टीकाओं † में टीकाकारों ने एक २ पद्य के जितने २ आशय प्रदर्शित किये हैं वे सब ग्रन्थकर्त्ता के अभिप्रेत नहीं होसकते । और ग्रन्थकर्ता के अभिप्रेतार्थ के विरुद्ध उसकी पदरचना का अर्थ करना उसकी स्वर्गस्थित आत्मा को नरक यन्त्रणा देनेके समान है । अस्तु; तो श्लेष को कविता का

---

* 'बसी भाल मूरति मुसक्यानी' आदि चोपाइयों का ये पण्डितलोग कैसा मनमाना अर्थ करते हैं सो बहुतेरे पाठकों पर विदितही है ॥

† मैनपुरनिवासी मुन्शी शुकदेवलालजी कृत टीका बहुत उत्तम है । नवलकिशोर प्रेस लखनऊ से मिल सकती है ॥

बैठे कि कौमुदी में धब्बा लगा धीरे २ जग में अंधेरा छाने लगा। चोर और उचक्कोंको अपनी मनमानी कार्यवाही करनेका सुअवसर प्राप्त होगया। मोहमयी निद्रा के भुलावे में जगत् को ऐसा भुलाया कि अपने तन धन की किसी को सुरत भी न रही। विचारी विरहिणी अबलाओं पर मन्मथ अपनी मनमानी ताड़ना करनेलगा पर उन विचारियों की पुकार किसीने न सुनी। और सुनी भी तो अनसुनीसी करदी। हाकिम का यह हाल देख विचारी चिड़िया चुनमुनीने अपने घोंसलों में शरणली। उल्लू और रजनीचरों की वनपड़ी। विचारे गरीबों को अपने घर की वस्तु न मिलती थी। हा धनवानों के यहां धन के बलसे भाड़ फानूसों का उजाला था। जब सारे जगत् में अंधेराही अंधेरा छागया तब इन का भी समय पूरा होआया। चट प्रकृतिदेवी ने इनके बदली की आज्ञा दी और उनके स्थानापन्न सूर्यदेव को किया। इस आज्ञा को सुनतेही चन्द्रदेवकी कान्ति न जाने कहां विलाय गई। वह शोभा किधर चली गई, यह वह चन्द्रही न रहे! ज्यों २ सूर्यदेव की सवारी नगचाती आती थी त्यों २ यह हीन क्षीण मनमलीन होते जाते थे। इस उलट फेर को देख संसार चौकन्ना हो उठा। दबे दबाये जो जहां पड़ेहुएथे चैतन्य हो बैठे। चकवेके जोड़े जो जुदे हो रहे थे मिल बैठे। चातक ने बढ़के सूर्यदेव को आशीर्वाद दिया। मारे आनन्द के कमल खिलपड़े। चन्द्रमाको देख देखके गुलाब भी चुटकिया बजाने लगे।

जया।

जिससमय क्यारियों के मध्य क्रीड़ा घूमती तो झूमतीहुई फूलों की डालियां मानो उसकी मिलनलालसा से लिपटी जातीथीं, उस समय विचारे भ्रमर की क्याही विचित्र गति होती अर्थात् नतो

कपोलोंही पर बैठने पाता और न गुलाबही उसके मनभाता, शरीर को भी मनभर न देख पाता और चम्पासे भी घिनाता, इधर तो मधुर मन्द मुस्कुरान लुभाती और उधर मन्द सुगन्धित सुशीतल वायु से हिल्लोलित विकचकञ्जकलिया अपनी ओर बुलाती थीं। योंही बिचारा भ्रमर गुनगुनाता भुनभुनाता इधरका मारा उधर दिनभर हलाकानी उठाता।

इंला।

जिन ग्रन्थोंसे उक्त संग्रह उद्धृत किये गयेहैं उनमें ऐसे काव्य बहुत पाये जाते है, और तो क्या यदि उक्त ग्रन्थ काव्यमयही मान लिये जायँ तो स्थान बाहुल्य न होगा ॥ ये ग्रन्थ और इनके सिवा मधु मालती प्रमिला अकबर, और दुर्गेशनन्दिनी आदि हिन्दी के गद्य काव्य में आज दिन बहुत अच्छे ग्रन्थ लिखे गये हैं। यहा पर हम अपने हिन्दी के हितैषी पाठकों को यह परामर्श देना अपना कर्तव्य समझते है कि वे उक्त गद्य काव्य ग्रन्थों का अवलोकन अवश्य करें। विशेषकर वे लोग तो अवश्यही देखें जो अन्यभाषा में दक्ष हों हिन्दी के हितार्थ अपनी लेखनी संचालित कियाचाहते है।

उक्त काव्य के संग्रह को पढ हमारे बहुतेरे पाठक हमारी अबोधता पर हँसेंगे; पर उनको यह दृढतापूर्वक जान लेना चाहिये कि जबलों उनमें उन्हें कोई बात ऐसी नहीं प्राप्त होती जो उनके चित्त पर चोट करे, तबलों उन्हें कविता का स्वादही नहीं जान पडा ! हमारे पाठकों में से जो शास्त्रीलोग होंगे वे भी उक्तलेख पढ बडे चमत्कृत होंगे। वे बहुधा यही समझेंगे कि हम यह भ्रमवश न जाने क्या पढ़ रहे हैं वा लेखक ने भ्रमवश न जाने क्या लिख मारा है ? पर दोनों में से भ्रमित कोई भी नहीं है यह दिखाने के लिये उन्हीं के परिचय के कुछ पद्य नीचे उद्धृत करते हैं।

तत्तु तीरं समासाद्य तमसाया मुनिस्तदा ।
शिष्यमाह स्थितं पार्श्वे दृष्ट्वा तीर्थमकर्दमम् ॥
अकर्दममिदं तीर्थं भारद्वाज निशामय ।
रमणीयं प्रसन्नं च सज्जनानां मनो यथा ॥
इदं तीर्थसमं सौम्यं सुजलं सूक्ष्मवालुकम् ।
न्यस्यतां कलशस्तात दीयतां वल्कलं मम ॥

बालकाण्ड—सर्ग २ ।

आद्य कवि का यह काव्य किसे 'रमणीय' नहीं जान पड़ता ? ऐसा कौन है जिसके चित्त को यह प्रसन्न नहीं कर सकता ? वास्तव में इसमें कोई ऐसी अनूठी उक्ति भी नहीं है । जो दृश्य नित्य प्रति ग्रामीण कोल किरातों को दृष्टिगत हुआ करते हैं उन्हीं का इनमें वर्णन है । और यही इन पद्यों की इतनी रमणीयता का कारण है ! उन्हें समझने के लिये यत्किंचित् भी परिश्रम नहीं उठाना पड़ता । नदी को देख प्रत्येक मनुष्य के मन में जो कल्पना निसर्गतः उत्पन्न होती हैं उन्हीं को कवि ने यहां नितान्त सरल रीति द्वारा कह दिखलाया है । इस वर्णन में कवि ने केवल एक ही अलंकार का प्रयोग किया है,—प्रयोग करने की अपेक्षा यह आगया है कहना बहुत समीचीन होगा । क्योंकि यह ऐसा सहज आया है—और यही कारण है कि उक्त स्थानपर वह ऐसा शोभता है—कि उसके लाने के लिये कविको यत्किंचित् भी प्रयत्न न करना पड़ा होगा । अभिप्राय यह है कि इस काव्य की जितनी प्रशंसा कीजाय थोड़ीही है । जिसने आजलों करोड़ों मनुष्यों का रञ्जन किया और गण्यमान्य हुआ उसकी प्रशंसा हमसे अल्पमति करही क्या सकते हैं ?

इसी प्रकार आगे बढ़ के क्रौंच पक्षी का वृत्तान्त लिखा है वह

भी कैसा हृदयंगम है! उसे पढ़कर जिसकी वृत्ति पहले की नाई ही चित्रार्पित होरहेगी उसे किसी दूसरे की उपमा कदापि न फवेगी,–फवेगी तो एक उसी निषाद की!

बात तो यह है कि सत्काव्य के लिये पद्यरचना, यमक, प्रास, श्लेष सुतरां वर्ण मधुरतादिकों में से किसी की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है! जिसके पठन वा श्रवण से मनोवृत्ति प्रसन्न हो लोकोत्तर आनन्द का अनुभव करती हैं और जिसका रस सहज ही अन्तःकरण में भिद जाता है वही सत्काव्य है! पर जिसके पठन वा श्रवण से यह नहीं होता तो उसके छन्द, यमक, श्लेष मृदुतादि विषय के सब परिश्रम व्यर्थ है!

(५) उक्त बातों पर सम्यक् मीमांसा करने से यह बात ध्यान में आती है कि कवित्व ईश्वरप्रदत्त गुण है। यदि कोई चाहे कि परिश्रम कर मैं उसे प्राप्त करलूं सो नहीं होसकता। अतः मनुष्य शक्ति के परेके सौन्दर्य और मधुर स्वरादि गुण बलात् प्राप्त करने वाले को जितना यश लाभ होगा उतनाही हठात् कवि बननेवाले मनुष्य को होगा। जो अन्तर बनावटी सौन्दर्य और प्रकृतिसुलभ सुन्दरता में रहता है सोई हठात् जोडी हुई कृत्रिम कविता और यथार्थ कविता में पाया जाता है। जैसे बनावटी सौन्दर्यसपन्न कविता प्रयत्नाधीन है वैसेही कविता के बहिर्वेष अर्थात् छन्द, मृदु रचनादि भी परिश्रमाधीनहैं। सामान्यबुद्धि का मनुष्य भी प्रयत्न करने से उनमें निपुण हो सकता है। इतना इसमें अलबत्ते हो सकताहै कि कोई अधिक और कोई न्यून ज्ञानसपन्न होता है; कविता के बहिरङ्ग भूषणों में कितनीही चमक दमक क्यों न हो पर यथार्थ रसिक को उससे वैसा लोकोत्तर आल्हाद कदापि प्राप्त न होगा जैसा यथार्थ कविता के एक चुटकिले मात्र से होगा।

उदाहरण स्वरूप में कतिपय पद्य नीचे संगृहीत किये जाते हैं।

जयकरी छन्द।

सन्तन के लक्षण सुनु भ्राता। अगणित श्रुतिपुराणविख्याता॥
सन्त असन्तनकी अस करणी। जिमि कुठार चन्दन आचरणी॥
काटै परशु मलय सुनु भाई। निज गुण देय सुगन्ध वसाई॥
दो० ताते सुरशीशन चढ़त, जगवल्लभ श्रीखण्ड।
अनल दाहि पीटत घनहि, परशु वदन यह दण्ड॥

पादाकुलक।

विषय अलंपट शील गुणाकर। परदुख दुख सुख सुख देखेपर॥
सम अभूत रिपु विमद विरागी। लोभामर्ष हर्ष भय त्यागी॥
कोमल चित दीनन पर दाया। मन वच क्रम मम भक्त अमाया॥
सबहिं मानप्रद आपु अमानी। भरत प्राण सम मम ते प्रानी॥
विगतकाम मम नाम परायन। शान्त विरक्त विदित मुदितायन॥
शीतलता सरलता मयत्री। द्विजपद प्रेम धर्म जनु यन्त्री॥
यह सब लक्षण वसहिं जासु उर। जानेहु तात सन्त संतत फुर॥
शमदम नियम नीति नहि डोलहिं। परुष वचन कबहूं नहिं बोलहिं॥
दो० निन्दा अस्तुति उभय सम, ममता मम पद कञ्ज।
ते सज्जन मम प्राणप्रिय, गुण मन्दिर सुखपुञ्ज॥
(तु. कृ. रा. उत्तरकाण्ड।

भगवद्भक्तों का उक्त वर्णन कैसा उदात्त है। इसके छन्द पद रचनादि नितान्त सरल एवं सुबोध होने के कारण यह और भी अधिक रमणीय होगया है। ऐसे प्रसंगपर संस्कृत के शिखरिणी, पृथ्वी, मन्दाक्रान्तादि वडे २ वृत्त वा भाषा के कवित्त सवैयादि मञ्जुल वृत्त उक्त छन्दों जैसे हृदयग्राही कदापि न हो सकते।

चौपाई ।

घन घमण्ड नभ गर्जत घोरा । प्रियाहीन डरपत मन मोरा ॥
दामिनि दमकि रही घन माहीं । खलकी प्रीति यथा थिर नाहीं ॥
बरषहिं जलद भूमि नियराये । यथा नवहिं बुध विद्या पाये ॥
बूंद अघात सहैं गिरि कैसे । खलके वचन सन्त सह जैसे ॥
क्षुद्रनदी भरि चलि उतराई । जस थोरे धन खल बौराई ॥
भूमि परत भा ढाबर पानी । जिमि जीवहि माया लपटानी ॥
सिमिटि सिमिटि जल भरे तलावा । जिमि सद्गुण सज्जन पहँ आवा ॥
सरिता जल जलनिधि महँ जाई । होइ अचल जिमि जन हरिपाई ॥

तु. कृ. रा किष्किन्धाकाण्ड ।

(६) इतने संग्रह अलम् होंगे । इन्हें देख यथार्थ कवित्वका रूप पाठकों के ध्यान में आजावेगा । वह यही कि अन्य किसी की सहायता न ले केवल अर्थकी ही सुन्दरता और तद्वाचक शब्दों की अनोखी सुष्ठुता द्वारा मनको चमत्कृत करने की शक्ति । कवि के सिवा इतर मनुष्य को इस शक्ति का बोध होना असंभव है । और तो क्या स्वयं कविहीं इसका वर्णन नहीं करसकता ! यही कारण है कि कवि और अन्यलोग इसे ईश्वरी प्रेरणा वा प्रतिभा कहा करते है । सामान्य मनुष्यों की प्रज्ञा और प्रयत्न कविता के केवल बहिरङ्ग लक्षणपर्यन्त पहुंच सकते हैं; अतः अपने काव्यको सरस करने के लिये उन लोगों को बडे २ वृत्त, अर्थालंकार, और शब्दालंकारादि की शरण लेनी पडती है । पर उक्त संग्रहों के विषय में विचार करिये । उनमें यथार्थ कवित्व लाने के लिये बहिरङ्ग साधनों की अणुमात्र भी सहायता नही लेनी पडी । दोहा, चौपाई आदि छन्द जिनमें अन्य छन्दों की नाई कुछ विशेष मधुरता नहीं रहती; और जिनकी रचना अन्य पद्यों की अपेक्षा सरल

मीमांसा, सुतरां आयुर्वेद और ज्योतिषादि शास्त्रों का भी सम्
लाया हुआ दृष्टिगत होता है। बढते २ यह यहां तक बढा कि
इधर शास्त्री लोग काव्य का नाम सुनतेही नाक मुंह सिकोड
चट 'रण्डागीतानि काव्यानि,' * कह बैठते हैं। यह दशा तो
राने पण्डितों की हुई अब अंगरेजी के नवीन-पण्डितों का हा
सुनिये। इन लोगों की सम्मति ऐसी कुछ जान पड़ती है कि इ
गरेजी विद्या भी प्राचीन संस्कृत की नाईं काव्य के लिये नितान
अनुकूल है सुतरां उसके विना कविता वनाना कठिन क्या, अस
भवही है। वा- हम यही क्यों कहें, हमें तो ऐसा जान पड़ता
मानो इन अबोध लोगों ने अंगरेज़ी विद्वत्ता को सब गुणों क
अधिष्ठान समझ रक्खाहै। ये लोग इस नवीन विद्वत्ता को एक बड़
अनोखी वस्तु मानते हैं। ये लोग समझते हैं कि इसकी सहायत
से सभा में उपस्थित हो बृहस्पति की नाईं हम अपनी वक्तृताद्वार
अपने श्रोताओं को आश्चर्य चकित करसकते है, और कालिदास
के समान संसार को सदा मोहित करनेवाली कविता बना सकते
हैं, और शाक्यमुनि के सदृश मानसिक व्यापारों की उपपत्ति भी
कर सकते है। सारांश ये लोग समझते हैं कि उक्त परस्पर वि
रुद्ध शक्तियां एक अंगरेज़ी विद्वत्ताद्वारा प्रकृति की उपेक्षा कर प्राप्त
होसकती है। कई लोगों ने स्यात् यह भी समझ रक्खा हो, कि
जहां मनुष्य चार पांच वर्ष विद्यालय में रह चुका कि उसे समस्त
भूमण्डल के वाणिज्य की रीति भांति राज्यव्यवस्था, और युद्ध
कलादि में पूर्ण निपुणता प्राप्त होजाती है। गीतशास्त्र और पाक
शास्त्र के जिज्ञासु लोगों को भिन्न विद्वानों की शरण नहीं लेनी
पडती। तात्पर्य-

* पाठक स्वयं विचार लें कि उक्त वाक्य से इन लोगों की काव्य मर्मज्ञता का कैसा परिचय मिलता है॥

प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां
पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥

"समस्तगुण समुच्चय को एक स्थान में संगृहीत करने की विधि की इच्छा नहीं दीख पडती, वरन उसके विपरीत लक्षित होती है" ऐसा अनुमान दो * सहस्र वर्ष के पूर्व कालिदास को जान पड़ा था, और इधर भी लोग इसे ऐसाही समझते थे, वह सब सम्प्रति अन्यथा निश्चित होचला वा क्या, कुछ जान नहीं पडता। पुराकाल में होमर, थुसिडिडीस, आरिस्टॉटल् आलेक्जाडर से सुप्रसिद्ध पुरुष होने के लिये बहुत दीर्घकाल अपेक्षित था, इसके सिवा एक व्यक्ति एकही गुण में पार्थिव प्रयासों से पूर्णदक्ष होसक्ता था; पर जब से इधर अंगरेजों का अधिकार हुआ तब से उनकी विद्या का यहां संचारमात्र होतेही उक्त सब बातें एक साथ ही परिवर्तन ग्रहण करने लगीं। संप्रति शिल्पशास्त्र जैसे उन्नत दशा को प्राप्त हो चारों ओर अपना अद्भुत प्रभाव दिखारहा है वैसेही वा उससे कहीं बढ़के बुद्धि अपने चमत्कार दिखानेलगी है। मानो ऐसा कुछ होगया है कि मनुष्य का मन बहुतही थोडे काल में पूर्णता प्राप्तकर प्रत्येक गुण का बहुत सुगमता से संग्रह करने योग्य होगया हो। अस्तु; यह बडा भारी ज्ञान का प्रकाश ईश्वर की कृपा से हमारे देश को हितावह हो यही हमारी आन्तरिक प्रार्थना है।

यह हम पूर्णतया जानते हैं कि उक्त लेखपर लोग नानाविध आक्षेप करेंगे। उन सबका यहां निराकरण करने के लिये एक

* यह समय यहां निश्चयपूर्वक नहीं लिखा गया है। पर जबतक पढ़े विक्रमादित्य राजा और इस महाकवि के कालकी मिलता किसीने दृढतापूर्वक प्रमाणित नहीं की है तबतक जनश्रुतीका अनुधावन करनाही हमें समुचित जान पडता है॥

वन में वनपशु के वधार्थ भ्रमण करती है ऐसा वर्णन उपलब्ध होता है। हमारे कथासमूह में भी ऐसी कल्पनाओं की कुछ ऊनता नहीं है। वह समुद्र से उदित हुआ सा दीख पडता है अतः तदुत्पन्न एक रत्न माना जाता है; उसके उदित होतेही कुमुदिनी (मानो हर्ष से) विकसित होती है अतः उनका पति माना जाता है; रात्रि में उसके किरण प्रकाशमान होते हैं एतावता उसका नाथ माना जाता है; उसके बिम्बपर मृग की आकृति दिखाई देती है इस हेतु उसे मृगाङ्क मानते हैं; उसका दर्शन होतेही समुद्र को (मानो आनन्दातिशयसे) बाढ़ आती है,एतावता (दूसरी कल्पनानुसार) उस का मित्र,और इसी प्रकार अन्धकार का शत्रु, राहुका द्वेष्य आदि माना जाता है। उसके करनिकर नेत्र और शरीर को सुख देते हैं इसहेतु वह शीतकर माना जाता है, चन्द्रकान्त को द्रवित करनेवाला आदि भी वह माना जाताहै। अब देखिये कि इस मनोहर भ्रम को तत्त्वज्ञ किस प्रकार से दूर कर डालता है! वह यह बात निश्चित करता है कि चन्द्र समुद्र से लाखों कोस की दूरी पर है अतः वह समुद्रोत्थ रत्न नहीं माना जासका; समुद्र में ज्वारभाटादि का होना, और कैरव का विकसित होना इत्यादि ये आकर्षणादि सृष्टि व्यापार के सब फल हैं; उसपर जो मृग दीख पडता है सो तत्रस्थ पर्वत की छाया है; जिसे राहु कहते हैं सो पृथ्वी की छाया है; ऐसी उपपत्ति वह करते जाता है। अन्त में, चन्द्रके करनिकर शीतल हैं यह सर्व साधारण का अनुभव भी उसे सहन न हो, वह उष्णताज्ञापक यन्त्रद्वारा चन्द्र के किरणों की उष्णता का हिसाब लगाता है!! लो पराकाष्ठा होगई। इस प्रकार कवि परंपरा विरचित सुन्दर मन्दिर का यह कविविरोधी अपने दूर निरीक्षण एवं

तृष्णाताज्ञापक, यन्त्रोंद्वारा समूल विध्वंसकर समस्त सृष्टि को उ-
जाड़कर छोड़ता है । उक्त संग्रह में जयदेवकविने कविता को चा-
दिनी और तर्कणाशक्ति को प्रचण्ड आतप की जो उपमा दी है
सो भी नितान्त सरस एवं समर्पक है । क्योंकि चादनी शान्त
और रमणीय होती है, और आतप उपयोगी अवश्य है पर उस
की लपट किसी को नहीं सोहाती । वैसेही कविता समझने के
लिये सुबोध होती है; मनका रञ्जन करती है मनको शान्ति देती
है; पर शास्त्रीय ग्रन्थ इसके उलटे रहतेहैं अर्थात् समझने के लिये
दुर्बोध, उनका बोध होनेपर मन को प्रगल्भता भलेही प्राप्त हो पर
उसका रञ्जन नहीं होता; और वाद विवाद के ग्रन्थों से तो चित्त
वृत्ति की शान्तता नष्ट हो वह अत्यन्त क्षुब्ध होजाती है । इस से
यही अभिप्राय प्रदर्शित किया गयाहै कि चन्द्रिका में पदार्थ स्पष्ट
रूप से न दिखपड़ने के कारण, कल्पनाशक्ति को पदार्थ के अय-
थार्थरूप द्वारा मनका रञ्जन करने के लिये अवकाश मिल जाता
है, पर भर दुपहरिया में पदार्थ नितान्त स्पष्टरूप से दिखपड़ने के
कारण कल्पनाशक्ति को निज कार्य साधनार्थ अवसर नहीं मि-
लनेपाता और पदार्थ का यथार्थरूप सहजही में दृष्टिगोचर हो-
जाता है । ठीक यही सिद्धान्त कल्पना और बुद्धिद्वारा सपादित
ज्ञान के लिये यथाक्रम चरितार्थ होता है ।

(४) उक्त उपपादन से हमारे कृतविद्य एव विवेकी पाठकों
को यह बात विदित होचुकी होगी कि बुद्धिकी प्रगल्भता मनकी उस
अवस्थाका नाम है जो उसे कल्पनाशक्ति के पूर्ण विकासके अनन्तर
प्राप्त होतीहै अर्थात् आदि में कल्पना का विकास होने लगता है
और जब वह पूर्णता को पहुँच जाता है तब बुद्धि का विकास
होनेलगता है । इसका अनुभव बहुतही सरलता से होसकता है ।

बचपन में लड़कों को खड़खड़ाहट, प्रदीप की ज्योति, चांद आदि का बड़ा कौतुक जान पड़ताहै, इसका कारण यही है कि उस समय उनकी कल्पनाशक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि लाभ करने लगतीहै । उन्हें भूत प्रेत और राक्षसादिकों की कथा सुनने में बहु रुचि होतीहै, अंधेरे में जाने आनेको वे डरते हैं, इसका भी कारण यही है कि उनकी कल्पनाशक्ति इस समय बहुत जागृत रहती है और विचारशक्ति प्रायः निद्रित रहती है । पर ज्यों जैसा जैसा उन्हें बोध होने लगताहै; वैसे वैसे वे इन निर्मूल बातों में विश्वास कम करने लगते हैं और सारासार विचार अर्थात् यथार्थता किस बात में है किस बात में नहीं है आदि की विवेचना करने लगते हैं । हमारे पाठकों में से बहुतेरों को निजके अनुभव का स्मरण होताहोगा कि बाल्यावस्था में ईसाप की कहानी पढ़ने को जी बहुतही चाहता था और उसका तात्पर्य पढ़ते सिर पीड़ा होने लगती थी; पर अब वह काल व्यतीतहो मनको उसके अनन्तर की दशा प्राप्त होजाने के कारण उक्त बात के विपरीत अनुभव होरहा है;—अर्थात् अब कथा कहानी की अपेक्षा तात्पर्य पर विशेष दृष्टि रहती है । अस्तु; यह बात जैसे व्यक्तिगत चरितार्थ होती है उसी प्रकार राष्ट्रगत भी चरितार्थ होती है । विचार के देखिये कि सब लोगों में प्राथमिक ग्रन्थ* जो पायेजाते हैं वे बहुधा कवितामें ही पायेजाते हैं; और ये केवल अनुक्रम से ही पहले नहीं रहते किन्तु योग्यता में भी अग्रगण्य रहते हैं । इन दोनों का कारण यही है कि उस अज्ञात अवस्था

* यह शब्द यहांपर " पुस्तक " वाचक शब्द के अर्थ में नहीं प्रयुक्त किया गया है यहां इसका मूलार्थ " जोड़ी हुई कहानी " ही लेना चाहिये । वेदों और होमरके समय में लेखन कला थी वा न थी इसके बखेड़े में पड़ने की यहां कोई आवश्यकता नहीं है ॥

[कल्पनाशक्ति जैसी उद्दाम और प्रचण्ड रहती है वैसी फिर कभी री नहीं रहती । लोग इस बात से बड़े आश्चर्यित होते होंगे कि वेद्वान् अर्थात् सकल गुण के आगर माने जानेवाले लोग अब ाल्मीकि, व्यास और होमर कैसे कवि क्यों नहीं होसकते । पर [सका कारण पीछे जो उल्लिखित होचुका है उसकी आलोचना करने से समस्त विस्मय दूर होजायगा । उस मन्वन्तर से वर्तमान मन्वन्तर बहुतही निराला है । उस समय बहुधा कल्पनाशक्ति की ही प्रबलता होने के कारण वैसे जगन्मान्य काव्य ग्रन्थों की सृष्टि उस समय होगई । पर अब कल्पनाशक्ति शेष हो उसके स्थान में विवेचनाशक्ति की प्रबलता दिनोंदिन बढ़ती जाती है अतः वह सामर्थ्य अब नहीं रहा और नानाविध शास्त्र ग्रन्थ प्रादुर्भूत हुए । अब इधर लोगों की मनःप्रवृत्ति अन्तरालय के चमत्कार, भूगर्भ की विलक्षण रचना और मनोवृत्ति संचालन के नियम जानने की ओर आकृष्ट होरही है । पहला काल मधुमास के नाई वृक्षों को पल्लवित और कुसुमित करनेवाला था, पर यह वर्तमान समय शरन्मास के सदृश फल सस्य समृद्धि करनेवाला है । ऐसी दशामें दोनोंकी एकाधिकरणता अर्थात् एकत्र वास कब सम्भवहै !

(५) इन सब बातों की सम्यक् मीमांसा करतेही हमारे विज्ञ पाठकों को 'सुधार कविताका बाधक है' 'ज्ञानावस्था में उसकी बाढ़ रुकजाती है' आदि विलक्षण दिखनेवाले वाक्योंका अर्थ उत्तम तया ज्ञात होजायगा, और उनकी सत्यता उनके मनपर प्रतिबिम्बित होजायगी । अस्तु; अब कवि के लक्षण, उसके प्रधान एवं गौण गुण आदिके विषय में आलोचना करते हैं । भरोसा है कि इस आलोचनाद्वारा वर्तमान विषय विशेषरूप से स्पष्ट होजायगा ।

(६) 'कवि' शब्द का धात्वर्थ 'गानेवाला' * पायाजाना है ।

---

* कु-'गाना'

इस शब्द का यह अर्थ अब इधर परिवर्तित होगया है; क्योंकि गायन एक निरालाही गुण होगया है। पर पुराकाल में सब देशों में और अभी भी वैसी अवस्था जहां होगी वहां कविलोग ही गाने बजानेवाले रहते है। संस्कृत के नाटक ग्रन्थों में यह प्राचीन व्यवस्था दीख पड़ती है। राजा के निकट स्तुति पाठकगण रहा करते थे उन्हें नाटक की परिभाषामें 'वैतालिक' और यों 'बन्दीजन' भी कहते थे। दैत्यगुरु शुक्राचार्य को इसी कारण 'कवि' और 'काव्य' संज्ञा प्राप्तहुई थीं। ग्रीकलोगों में–'ऱ्हापसोडिस्ट्स' (Rhapsodists) नाम के लोग थे, वे लोग होमर आदि प्राचीन बहुमान्य कवियों के काव्य गा बजा वा मुखाग्र कर अपनी आजीविका किया करतेथे। इन काव्यपाठकों में से कोई २ स्वयं काव्य रचना किया करते थे। अस्तु; तो उस समय लेखन कला प्रचलित न होनेपर भी हमारे वेदों की नाई उनके वे काव्य पाठक परंपरा द्वारा उन में बने रहें। यह बात पुराकाल की हुई। पर इतने दूर जाने की भी कोई आवश्यकता नहीं है। यह बात अभी कुछ काल के पूर्व इधर के प्रान्तों में कहीं २ दीख पड़ती थी। पेशवा के शासनकाल में लावनी, पवाडे छन्दोबद्ध कर वे लोग स्वयं गाया करते थे, और उनकी योग्यतानुसार वे लोग पुरस्कृत भी किये जाते थे। पाठक परंपराद्वारा यह कविता अभीलों हम लोगों में बनी है। इसे छपवाकर प्रसिद्ध करना देशाभिमानी लोगों का परमकर्तव्य है क्योंकि तद्द्वारा भाषातत्त्ववेत्ता और रसिक लोगों पर बडाभारी उपकार होगा। तौ हमारे देश में इस प्रकार 'कवि' शब्द रूढ़ हुआ अंग्रेजी भाषा में एतदर्थ वाचक जो शब्दहै * उसका अर्थ ' करनेवाला' है। अतः सामा

* poet=poeo ' I make '

न्यतः उस भाषा के लोग समझते हैं कि कवि, अर्थात् कल्पना सृष्टि का बनानेवाला यही उसका मूल अर्थ है। पर हम नहीं समझते कि ऐसा गहन अर्थ उन लोगों के मन में प्रथमतः आया हो। हमारे 'कवि' शब्द की नाईं 'करनेवाला' अर्थात् 'पद्य जोड़नेवाला' इतनाही अर्थ उस समय के लिये हम अधिक युक्ति संगत मानते हैं। अस्तु; यहांलों केवल शब्द की व्याख्या का विवरण हुआ। अब आगे कवि के आवश्यक गुणों के विषय में विचार प्रकाशित किया जाता है।

(७) कवि का प्रधान गुण सहृदयता है। हृदय की शृङ्गार, वीर, करुणादि जो भिन्न २ वृत्तियां हैं वे उसे अत्यन्त सूक्ष्म एवं स्पष्टरूप से अनुभूत होनी चाहिये। उक्त भिन्न २ वृत्तियों का विषय इन्द्रियगोचर होतेही कवि का मन क्षुब्ध होजाता है, और उस क्षुब्धता के आवेग में उस के मुख से जो बातें विनिःसृत होती हैं वही यथार्थ कविता है *। इसका परमोत्तम उदाहरण पूर्वोल्लिखित हमारे आदिकवि की क्रौंचवध विषय की कविता है। हमारे भाषा काव्य के भण्डार में ऐसी सर्वाङ्ग सुन्दर कविता विशेषकर गोसाईं तुलसीदासजी कीही पाई जाती है †। इनका मन अत्यन्त निर्मल एवं प्रेमी वैसेही स्वभाव नितान्त सरल अथवा गम्भीर होने के कारण जिस प्रसङ्ग की चौपाई देखिये मानो उससे वह रस टपका पड़ता है; यही कारण है कि आज तीन चार सौ वर्ष से उनकी चौपाई रामायण हम लोगों को ऐसी प्राणप्रिय होरही है। और जबलों उसकी आधारस्वरूप हिन्दीभाषा संसार में प्रचलित रहेगी तबलों

* वर्ड्स्वर्थ नामक अंग्रेज़ कवि ने काव्य का लक्षण यों कियाहै "Poetry is the spontaneous overflow of powerful feelings".

† देखिये आप क्या कहते हैं—

सरल कवित कीरति विमल, सोइ आदरहिं सुजान।

यह संसार में अमेट धनी रहेगी। तो कवि का हृदय ऐसा चाहिये कि जिसमें भिन्न २ मनोवृत्तियां पूर्णरूप से प्रतिविम्बित होजायँ, अर्थात् सहृदयता यही काव्य का प्रधान लक्षणहै। यह गुण जिस में नहीं है उसकी बुद्धि कैसीही प्रचण्ड एवं प्रखर क्यों न हो पर उसका यहां अणुमात्र उपयोग न होगा। इसके उदाहरणों का हमारे देश में मिलना असम्भव है क्योंकि हमारे प्राचीन एवं अर्वाचीन ग्रन्थ प्रणेतृ गणों की जीवनी वा उनका इतिहास हमें कुछभी उपलब्ध नहीं है। ऐसी अवस्था में हमें देशान्तरनिवासी लोगोंको ही उदाहृत करना पडता है। हमारे पाठकों में से बहुतेरों को स्यात् विदितही होगा कि प्राचीन रोमनलोगों में सिसरो नाम का एक महान् वक्ता होगया है। यह वक्ता राजकाज में वडा निपुण एवं दक्ष तो थाही पर इसके सिवाय यह महान् विद्वान् भी था। इसने क्याटिलैनके राजविद्रोह का दमनकर रोम नगर की रक्षाकी; इसके सिवाय इसके विषयमें यदि ऐसाभी कहाजाय कि उस घोर विपत्तिसे इसने समस्तराज्यकी रक्षा की तौभी किञ्चिन्मात्र वाहुल्य न होगा। ल्याटिन भाषा में इस महान् पण्डित ने सैकडों बड़े २ ग्रन्थ रच डाले थे, पर अब उनका १⁄६भागमात्र शेष रहगयाहै। कहने का अभिप्राय यहीहै कि यह ऐसा प्रचण्ड विद्वान् एवं वाग्मी होनेपर भी इसकी कविता ऐसी नीरस थी कि उसे कविता * कहनाही अनुचित है! स्वाभिमान के कारण केवल उसेही † वह वहुत उपयुक्त जान पडती थी, पर अन्य लोगों

* खेद का विषय यह है कि आजकल खडी आडी तिरछी आदि हिन्दी के प्रेमीलोग हिन्दी के काव्य को ऐसेही काव्य से पूरित करना अपना परम कर्तव्य मानते हैं॥

† निज कवित्त केहि लाग न नीका। सरस होय अथवा अति फीका॥

तुलसीदास।

ने उसे आज पर्यन्त नीरस और अनुपयुक्तही माना है। ऐसे उदाहरण अनेक पाये जाते हैं पर यहां पर एकही अलम् होगा। अब कुछ उदाहरण अन्य प्रकार के लिखेजाते हैं। जान्सन् पोप ड्रायडन् आदि कैसे उद्दण्ड ग्रन्थकार होगये हैं सो यहा कहने की कोई आवश्यकता नहीं है। इनमें से अन्तिम दोनोंने तो अपना समस्त जीवन कविता लिखने मेंही व्यतीत किया; और तीनों अपने २ समय के कवियों में अग्रगण्य थे। पर अब ये वैसे नहीं मानेजाते, और कोई २ तो कहते हैं इन्हें कवि कहना बडी भूलहै। अस्तु, तो यह सब उदाहरण महान् पण्डित हो बिलकुल कवि न होनेवाले वा निदान महान् कवि न होनेवालों के हुए। पर इससे भी अधिक विलक्षण एक बात बार बार दृष्टिगत हुआ करती है वह यह है कि समय विशेष के कारण यथार्थ कवि का भी काव्यत्व न्यूनाधिक होता है; अर्थात् कोई काव्य कभी परमोत्तम बन जाता है, पर दूसरी बार वैसाही उद्योग और प्रयत्न भलेही किया जाय पर वैसा काव्य नहीं बन सकता। अंग्रेज कवि मिल्टन ने अपने विषय में ऐसा लिखा है कि मेरी प्रतिभा वर्ष के कुछ महीनों में विशेष समुज्ज्वल रहा करती थी, और बहुधा इसी के अनुसार मैं काव्य रचना किया करता था। पोप के विषय में जान्सन् ने यह लिखा है कि बीस वर्ष की अवस्था में जैसी उत्तम कविता उसने की उससे अधिक उत्तम कविता फिर वह लिखही नहीं सका। वही बात बैरन के सम्बन्धसे भी कही जाती। इसके विषय में इतना और भी कहा जाता है कि इसने उत्तर अवस्था में जो काव्य रचे हैं उनकी योग्यता पूर्वावस्था लिखित काव्योंकी अपेक्षा बहुतही कम है। अस्तु; तो इस समस्त कथन से यह स्पष्टतया सिद्ध होताहै कि काव्य का तत्त्व सहृदयता है। ग्रन्थ में जैसी

यह न्यूनाधिक होती है वैसेही उस ग्रन्थ को न्यूनाधिक फ। प्राप्त होता है । यह हठात् तो उपलब्ध होतीही नहीं; और यदि निसर्गतः प्राप्त भी हो तौभी सदा ❋ कविके स्वाधीन नहीं रहती।

(८) तौ सामान्य मनुष्य और कवि में इतनीही विशेषता है कि कवि में सहृदयता बहुत अधिकता के साथ क्या रहती है वह सहृदयतामयही रहता है । कविता के अन्य गुणों में से यही एक प्रधान गुण है कि जिसे यथार्थतया ध्यान मे धारण करने से कविता के सकलाङ्ग का बोध बहुत सुगमता के साथ होसकता है। सहृदयता अर्थात् अन्तःकरण की कोमलता जैसे युवावस्था में बहुत प्रचुरता के साथ पाईजाती है, उसी प्रकार वह उन देशों में भी बहुत अधिकताके साथ पाईजातीहै जो अज्ञान दशा में निमग्न रहते हैं । बाल्यावस्था में अन्तःकरण की वृत्ति अत्यन्त सुक्षुब्ध रहती है यही कारण है कि उस अवस्थामें नाटक उपन्यास, और अन्यान्य काव्यों का उत्साह बढते जाता है; और उत्तम कविता भी राष्ट्र की प्राथमिक अवस्था मेंही उत्कर्ष को प्राप्त होती है। पर ये शान्त एवं सौम्य वृत्ति मनुष्य और देश की प्रौढ़दशा के लाग पर लुप्तहोने लगती है और अन्त अन्त में तो वे बहुधा निःशेषही

❋ लक्ष्मी कृपापात्र पुरुषों को यह बात विशेषकर ध्यान में रखनी चाहिये कि जब वे अपने किसी आश्रित कवि को कुछ लिखने पढने की आज्ञा दें और उसके वरक्षण संपादित करने का अनुरोध करें; और वह पराधीनवृत्ति उनकी आज्ञानुसार उन्हें प्रसन्न न कर सके तो वे यह दोष उसका न समझें । ऐसी अवस्था में हमारे विभवशाली पुरुष यदि कहें कि कवि ध्यान देता तो हमारी आज्ञा का पालन होजाता, उसने ध्यानही नहीं दिया । यदि वह विचारपूर्वक लिखता तो हमारी मन कामना पूर्ण होजाती । उक्त लोगों का यह कथन कहालों युक्ति संगत होसकता है सो विज्ञ पाठकों को उक्त सिद्धान्त से सहजहीं में विदित होसकताहै॥

होजाती है; उन्हीं के साथ २ विचार शक्ति की प्रबलता बढ़ती जाती है और कवित्व का ह्रास होते जाता है। प्राचीन काल में जो कवि होगये हैं उन्हें प्रकृति और मानवी स्वभाव का बहुत उत्तम परिचय था; आजकल की नाईं उनके उक्त दोनों गुण कृत्रिमता से दूषित नहीं हुए थे। एतावता उन दोनों गुणों की प्रतिमा उन के विशद मनपर मानो खचित हो वह उनके ग्रन्थों में वर्णन द्वारा प्रकट हुई। पर उनके अनन्तर जो कवि हुए उनके मनपर उक्तगुणों का यथावत् संस्कार न होनेके कारण उनसे प्रकृति देवी का वर्णन प्राचीन कवियों के सदृश नहीं बनसका। यह क्रम बढते २ यहांतक बढा कि अब प्रकृति का वर्णन नष्ट सा होगया और कविता भी एक सामान्य व्यवसाय मानी जाकर केवल गण मात्रा जोडने का काम होगई। प्राचीन कविगण स्वानुभूत बातों तथा मनोवृत्तियों का वर्णन किया करते थे; पर क्रमशः जब कीर्ति वा धन के लोभ से काव्य रचने की प्रथा निकली और कविता बनाना एक नियत व्यवसायही होगया, तब से कवियों को स्वानुभव की कोई आवश्यकताही नहीं रही। कविता रचने के लिये सहृदयता की अपेक्षा बुद्धि और परिश्रम की विशेष आवश्यकता जान पडने लगी। परिणाम यह हुआ कि प्राचीन कविता का मनोहर अर्थसौन्दर्य नष्ट हो उसके स्थान में बडे २ वृत्त पदलालित्य एवं मधुरता, अर्थालङ्कार, शब्दालङ्कार आदि का धीरे २ प्रयोग होनेलगा। जो पदार्थ, जो सृष्टि चमत्कार यावज्जन्म कभी दृष्टिपथ में नहीं आये, मनकी जो वृत्तिया और अन्तःकरण के विकार जिनका कभी साक्षात् अनुभव नहीं हुआ सुतरां जिनका अनुभव होने की सम्भावना भी नहीं है उनका भी उनके अनन्तर के कवियों ने साहसपूर्वक वर्णन किया है। भला इसे जाने

अनुकरणशील कवियों की कविता वैसेही उपहास के योग्य होती है जैसे जन्मान्धकविकृत वनश्री का वर्णन वा तृतीय प्रकृति पुरुष कृत शृङ्गार का वर्णन होता है ।

(६) तो पुराने कवियों के काव्य परमोत्कृष्ट होनेके यही सब कारण हैं । पहले तो तत्कालीन कल्पनाशक्ति की प्रबलता ने उनके काव्यको अत्यन्त पुष्ट किया, दूसरे बाह्य और अन्तःसृष्टि के शुद्धरूप संतत उनके दृष्टिपथ में आते रहनेके कारण उनके कृत्रिम संस्कार रहित शुद्ध मनपर ' रङ्गः शुक्लपटे यथा ' (शुभ्र वस्त्र पर रङ्गकी नाईं) वे पूर्णरूपसे भिदजाते रहे । तीसरा कारण यह भी कहा जासकता है कि उन कवियों की मनोवृत्ति और हृदयवृत्ति केवल स्वानुभूत होनेके कारण उनका आविर्भाव ठीक वैसा ही अविकलरूप से उनके ग्रन्थों में पायाजाता है । पदार्थविज्ञान शास्त्र में जलके धर्म की जो बात कही गई है कि वह जितनी ऊंचाई परहो उतनीही ऊंचाईपर चढ सकताहै, सो हमारे पाठकोंमें से बहुतेरों को ज्ञातही होगी। ठीक यही बात अन्तःकरण की वृत्तियों के लियेभी चरितार्थ होतीहै । जिन वृत्तियोंका पहले हृदयहीको ज्ञान न हो उनका वाग्द्वारा वर्णन यदि रसशून्य हो तो इसमें आश्चर्यही क्याहै ? यह कब संभव है कि जिसने वियोगजन्य दुःख क्या वस्तु है कभी जानाही नही वह पुत्रशोकादि का यथार्थ वर्णन करसके, वा जिसने अपनी समस्त आयु विषय विलासादिके सेवन में व्यतीत की हो उससे रणक्षेत्रादि का वर्णन यथार्थरूप से बनसके, वा जो वसन्तऋतु में शीतल मन्द सुगन्धित समीरनका सेवन किया करता हो वह वहां बैठे २ समुद्र के तूफान का यथार्थ वर्णन कर डाले । जिसने एक सामान्य टीले से बडा पर्वत कभी नहीं देखा वह हिमालय का वर्णन करने का साहस करे, वा क्षुद्र नालों को

पियर–जिसे योरोपके पण्डित गण कहतेहैं वह केवल योरोपकाही कवि नहींहै किन्तु समस्त मानव जातिका कविहै, * उसके ग्रन्थभी इसी मालिकामे परिगणित होतेहैं । इस कविरत्नकी अजरामर कृति में जिन्हें आश्रय न मिलाहो ऐसे दोप बहुतही कम होंगे ! आपने एक वचन क्रियाके कर्ताको बहुवचनमें लिखमाराहै, बोहेमिय देशको द्वीपमान उसके किनारे बन्दरमें जहाज पहुंचायाहै, ग्रीक लोगोंके बहुत काल पूर्व हुए हेक्टरनामक वीर और आरिस्टाटल से एक प्रसंगपर वार्तालाप करायाहै–ऐसीही इस सरस्वतीके लाल की औरभी बहुत लीलाहै +। भला इनको रहनेदीजिये । हम समझतेहैं कि यदि कोई शेक्सपियरके ग्रन्थों में, माधुर्य, मार्दव प्रसादादि गुणों द्वारा अपनी मनस्तुष्टि करना चाहे तो उसे निराशही होना पडेगा । इस कविके अनन्तर अर्थात् ड्रायडन, पोप और जान्-सन् आदिके समयमें तो उक्त गुणके विपरीत अर्थात् कर्कशता, जटिलताके कारण उसे कोई पूछता तक न था और सम्प्रति यद्यपि यह कवि ऐसा जनप्रिय होगयाहै तौभी इसके ग्रन्थोंमें सैकड़ों दुर्बोध स्थान पाये जातेहै । इसके सिवा इस कविकुलचूडामणिके ग्रन्थोंमें

---

* इस उक्तिका अभिप्राय यहीहै कि ऐसे पुरुष बहुतही कम होते हैं । ईश्वर केवल अपनी विभूतिका परिचय देनेके हेतु ऐसे पुरुषरत्नोंको कहीं २ प्रकट करता है । अत जिस देशमे वे लोग जन्म ग्रहण करें वही देश अपने को धन्य न मानें सो उसे ऐसा मानना चाहिये कि ईश्वरने यह कृपा मानव जातिमात्र पर की है ।

+ व्याकरणके अत्यन्त प्रसिद्ध दोषके उदाहरण ‘ जुलियस सीज़र ’ नाटक में पाये जातेहैं । –‘ There is, tears for his love ’ इस कविके भूगोल सम्बन्धी ज्ञानके विषयमें जानसन् ने एक स्थानपर टिप्पणीमें लिखाहै—

Our author seldom escapes well when he is entangled in Geography (हमारे कवि जब भूगोलके जालमें फस जाते हैं तब उस जाल से कुशलतापूर्वक बहुतही कम छूटपातेहैं ।) हमारे पाठक बहुधा यह जानतेही होंगे कि आरिस्टॉटल सिकन्दर बादशाहका गुरुथा । एतावता इस तत्त्ववेत्ताके वाक्यको हेक्टरका अपने सभाषणमें प्रयोग करना भीमके कालिदासका श्लोक पढ़ने के नाईं हास्यजनक है ॥

औरभी दो प्रचण्ड दोष पायेजातेहैं । एक श्लेष योजनाका अनिवार्य उत्साह और दूसरा अश्लीलता । जान्सनने एक स्थानपर कहाहै कि हमारे कवि श्लेषालंकारके अवसरको कदापि व्यर्थ एवं विफलित नहीं होनेदेते थे * । वही बात अश्लीलताके सम्बन्धसेभी पाई जातीहै । यह दोष अन्यान्य ग्रन्थोंमें तो पायाही जाताहै पर जैसा कुछ अथेल्लोमेंहै वैसा अन्य नाटक ग्रन्थोंमें नहींहै । अस्तु; अन्तमें एक बड़े निःपक्षपात अंग्रेज ग्रन्थकर्ताकी इस कविके विषयमें सम्मति प्रकाशित कर इस विषयको शेष करतेहैं । इस कविने कुछ छोटे २ काव्य और भी लिखे है; उनके सम्बन्धमें, हालम साहबने कहाहै कि ये ग्रन्थ इस कविकी समुज्ज्वल कीर्तिको कलंकित करते है । इन ग्रन्थोंको वह यदि न लिखता तो बहुत उत्तम होता । इन सब की अपेक्षा मराठीकी कविता अधिक सदोषहै । उसके बहुतेरे कवि व्याकरण और पिङ्गल † जानतेही न थे ऐसा कहाजाय तो बाहुल्य न होगा; जब काव्यके गौणगुणोंकी यह दशा पाई जातीहै तब उस के यथार्थ एवं प्रधान गुण अर्थ गम्भीरतादिके विषयमें आलोचना करनाही व्यर्थहै । उनकी कवितामें प्रसाद बहुत कम पाया जाता

*Our author can never resist the temptation of a pun,

† हिंदीमें छन्दोर्णवादि पिङ्गल रसराजादि नायिकाभेद और साहित्य-परिचय भाषाभूषणादि साहित्यके अनेकानेक ग्रन्थहैं । इनको देखभाल और विचारकर कविताने परिश्रम करनेके कारण हमारे हिन्दीके कवियोंके काव्योंमें मराठीकी नाईं छन्दादिके दोष प्राय नहीं पायेजाते पर साथही यह कहते बड़ा खेद होताहै कि च्युतसंस्कृति जैसा कुछ हिन्दीमें पाया जाताहै वैसा भारतकी अन्य भाषाओंके काव्योंमें स्यातही हो । इसके व्यतिरेक हिन्दीके काव्यमें एक महाभारी दोष यहभी पाया जाताहै कि कवियोंने अन्य वर्णोंमेंसी श्लेष और छन्दादिकोंकी आवश्यकतानुसार शब्दोंके शुद्धरूपको बिगाड़कर लिखमारा जैसे, पिनाकीके लिये पिनकी, गुरुके लिये गूरा इत्यादि । आजकलके कविगण यदि उक्त उदाहरणोंको प्रमाणस्वरूप न माना करें और यथासम्भव कवितामें शब्दके शुद्धस्वरूपका प्रयोग करनेके लिये यत्नवान् हुआ करें तो बहुत उत्तम हो । बड़ेबड़े कवियोंने अमुक शब्दका रूप अमुक प्रकारसे लिखाहै तो हमें उसका अनुकरण करनेमें क्या दोषहै ऐसा मानना, हमारी समझमें, बड़ी भूलहै ।

पियर–जिसे योरोपके पण्डित गण कहतेहैं वह केवल योरोपकाही कवि नहींहै किन्तु समस्त मानव जातिका कविहै, * उसके ग्रन्थभी इसी मालिकामें परिगणित होतेहैं। इस कविरत्नकी अजरामर कृति में जिन्हें आश्रय न मिलाहो ऐसे दोष बहुतही कम होंगे। आपने एक वचन क्रियाके कर्ताको बहुवचनमें लिखमाराहै, बोहोमिया देशको द्वीपमान उसके किनारे बन्दरमें जहाज पहुंचायाहै, ट्रोजन लोगोंके बहुत काल पूर्व हुए हेक्टरनामक वीर और आरिस्टाटल से एक प्रसंगपर वार्तालाप करायाहै–ऐसीही इस सरस्वतीके लाल की औरभी बहुत लीलाहैं +। भला इनको रहनेदीजिये। हम समझतेहैं कि यदि कोई शेक्सपियरके ग्रन्थोंमें, माधुर्य, मार्दव प्रसादादि गुणों द्वारा अपनी मनस्तुष्टि करना चाहे तो उसे निराशही होना पडेगा। इस कविके अनन्तर अर्थात् ड्रायडन, पोप और जान्सन् आदिके समयमें तो उक्त गुणके विपरीत अर्थात् कर्कशता, जटिलताके कारण उसे कोई पूछता तक न था और सम्प्रति यद्यपि यह कवि ऐसा जनप्रिय होगयाहै तौभी इसके ग्रन्थोंमें सैकड़ों दुर्बोध स्थान पाये जातेहै। इसके सिवा इस कविकुलचूडामणिके ग्रन्थोंमें

---

* इस उक्तिका अभिप्राय यहीहै कि ऐसे पुरुष बहुतही कम होते हैं। ईश्वर केवल अपनी विभूतिका परिचय देनेके हेतु ऐसे पुरुषरत्नोंको कहीं २ प्रकट करता है। अत जिस देशमें ये लोग जन्म ग्रहण करें वही देश अपने को धन्य न मानें तो उसे ऐसा मानना चाहिये कि ईश्वरने वह कृपा मानव जातिमात्र पर की है।

+ व्याकरणके अत्यन्त प्रसिद्ध दोषके उदाहरण 'जुलियस सीज़र' नाटक में पाये जातेहैं। –'There is tears for his love' इस कविके भूगोल सम्बन्धी ज्ञानके विषयमें जान्सन् ने एक स्थानपर टिप्पणीमें लिखाहै—

Our author seldom escapes well when he is entangled in Geography (हमारे कवि जब भूगोलके जालमें फस जाते हैं तब उस जाल से कुशलतापूर्वक बहुतही कम छूटपातेहै।) हमारे पाठक बहुधा यह जानतेही होंगे कि आरिस्टॉटल सिकन्दर बादशाहका गुरुथा। एतावता इस तत्ववेत्ताके वाक्यको हेक्टरका अपने सम्भाषणमें प्रयोग करना भीमके कालिदासका श्लोक पढ़ने के नाई हास्यजनक है॥

औरभी दो प्रचण्ड दोष पायेजातेहैं। एक श्लेष योजनाका अनिवार्य उत्साह और दूसरा अश्लीलता। जानसनने एक स्थानपर कहाहै कि हमारे कवि-श्लेषालंकारके अवसरको कदापि व्यर्थ एवं विफलित नहीं होनेदेते थे *। वही बात अश्लीलताके सम्बन्धसेभी पाई जातीहै। यह दोष अन्यान्य ग्रन्थोंमें तो पायाही जाताहै पर जैसा कुछ अथेल्लोमेंहै वैसा अन्य नाटक ग्रन्थोंमें नहीहै। अस्तु; अन्तमें एक बड़े निःपक्षपात अंग्रेज ग्रन्थकर्ताकी इस कविके विषयमें सम्मति प्रकाशित कर इस विषयको शेष करतेहैं। इन कविने कुछ छोटे २ काव्य और भी लिखे है; उनके सम्बन्धमें हालम साहबने कहाहै कि ये ग्रन्थ इस कविकी समुज्ज्वल कीर्तिको कलंकित करते हैं। इन ग्रन्थोंको वह यदि न लिखता तो बहुत उत्तम होता। इन सब की अपेक्षा मराठीकी कविता अधिक सदोषहै। उसके बहुतेरे कवि व्याकरण और पिङ्गल ‡ जानतेही न थे ऐसा कहाजाय तो बाहुल्य न होगा; जब काव्यके गौणगुणोंकी यह दशा पाई जातीहै तब उस के यथार्थ एवं प्रधान गुण अर्थ गम्भीरतादिके विषयमें आलोचना करनाही व्यर्थहै। उनकी कवितामें प्रसाद बहुत कम पाया जाता

* Our author can never resist the temptation of a pun

‡ हिन्दीमें छन्दोर्णवादि पिङ्गल रसराजादि नायिकाभेद और साहित्य-परिचय भाषाभूषणादि साहित्यके अनेकानेक ग्रन्थहैं। इनको देखभाल और विचारकर कवितामें परिश्रम करनेके कारण हमारे हिन्दीके कवियोंके काव्योंमें मराठीकी भांई छन्दादिके दोष प्राय नहीं पायेजाते पर साथही यह कहते बड़ा खेद होताहै कि श्लराज्य जैसा कुछ हिन्दीमें पाया जाताहै वैसा भारतकी अन्य भाषाओंके काव्योंमें स्यातहीहो। इसके व्यतिरेक हिन्दीके काव्यमें एक बड़ाभारी दोष यहभी पाया जाताहै कि कवियोंने प्रायः यथेच्छ श्लेष और छन्दादिकोंकी आवश्यकतानुसार-शब्दोंके शुद्धस्वरूपो-बिगाड़कर लिखमारा जैसे, पिताकीके लिये पितर्का, गुरुके लिये गुरु इत्यादि। आजकलके कविगण यदि उन उदाहरणोंको प्रमाणस्वरूप न माना करें और यथासम्भव कवितामें शब्दके शुद्धस्वरूपका प्रयोग करनेके लिये यत्नवान् हुआ करें तो बहुत उत्तम हो। पहलेके कवियोंने अमुक शब्दका रूप अमुक प्रकारसे लिखाहै तो हम उनका अनुकरण करनेमें क्या दोषहै ऐसा मानना, हमारी मतमें, बड़ी भूलहै।

है । मराठीके कवियोंमें वामन पण्डित अग्रगण्य माना जाताहै पर इस कविके पाण्डित्यकाभी इसकी कवितामें विशेषरूपसे परिचय नहीं मिलता। बहुतेरे स्थलोंपर अर्थ बहुत क्लिष्टहै और इस अतिरिक्त पद रचनाके विषयमें इन पण्डितने कुछ विशेष परिश्र कियाहो सोभी नहीं दीखपडता । अन्तमें हम अपने सहृदय पाठकोंको यही सिद्धकर दिखाना चाहते हैं कि पदलालित्यादि गुण काव्यकी सुन्दरताके कारण होतेहैं, और कहीं २ ये अर्थके आनन्दमें उपयोगी होनेके व्यतिरेक स्वयंभी आनन्द उपजाते पर तौभी काव्यके सर्वस्व नहीं माने जासक्ते। इन गुणोंका प्राय अभाव होने परभी संसारमें जिनके ग्रन्थ चिरकालसे सम्मानि होते आयेहैं उन महाकवियों का पीछे उल्लेख होहीचुकाहै । उन देख समझकर हमारे सहृदय पाठक सहजमेंही जानसकेंगे कि वर्ण मैत्री आदि काव्यके अप्रधान गुणहैं ।

(११) उक्त गुणोंको अप्रधान कहनेमें हमारा यह अभिप्राय कदापि नहींहै कि काव्यके लिये उनकी कोई आवश्यकताही नहीं है। अब यह बात सचहै कि केवल उन्हींके योगसे ग्रन्थको काव्यत्व प्राप्त नहीं होता, पर सत्काव्यसे यदि उनका संयोग होजाय तो इस में कोई संदेह नहीं कि, उसकी रमणीयताको वे कहीं बढ़ादेतेहैं इसके सिवाय यह महान् रससिद्ध कविकाही सामर्थ्यहै कि बहिरङ्गसाधनोंकी सहायता लिये विनाही लोगोंको काव्यकी सुन्दरता भासित कराना सुतरां एतद्विपरीत दोषोंसे दूषित ग्रन्थोंमें भी काव्यत्व उपजाना। पर सर्वसाधारणके मनोरञ्जनार्थ रत्नको जैसे कुन्दनमें खचित करना पड़ताहै वैसेही काव्यको उक्त गुणोंसे अवश्य अलंकृत करना चाहिये यही बात संस्कृतके कालिदासप्रभृति और ल्याटिनके व्हर्जिलादि कवियोंके ग्रन्थोंमें पाई जातीहै । यही

कारणहै कि उनके काव्य जिस प्रकार बड़े मार्मिक एवं रसिकको मनोरञ्जनकर उन्हें लोकोत्तर आनन्द प्राप्तिके साधन होतेहैं उसी प्रकार सर्व साधारणकोभी आज पर्यन्त आनन्द देते आयेहै।

(१२) इस प्रकार कविके प्रधान और अप्रधान गुणोंका विशेष रूपसे ऊपर विवरण होचुका। जिन लोगोंने उक्त विवरणको सावधानीपूर्वक पढ़ा होगा और विचारा होगा वे इस विषयकी सूक्ष्मताको समझही गये होंगे कि काव्यके प्रधान गुण सहृदयता और तज्जन्य वस्तुविशेषके प्रकृति सुलभगुण वर्णन करनेकी शक्ति ईश्वर प्रदत्त गुणहै अर्थात् सैकड़ों ग्रन्थोंका पठन और मनन करनेसे वा बड़ा वादचञ्चु अथवा ग्रन्थप्रणेता होनेसे कोई उक्त गुणका लेशमात्रभी प्राप्त नहीं करसकता। उद्दण्ड विद्वान् होनेसे जैसे मनुष्य चित्र, गायन वा वादनकलामें निपुण होहीजाताहो सो नहीं माना जासकता वही बात काव्यरत्नकी भीहै। रत्नकी परख जैसे शिक्षा के आधीन नहींहै, और चित्र तथा वादनकला का मर्म जाननेकी शक्ति जैसे ईश्वर किसी विरलेही पुरुषको देताहै उसी प्रकार काव्यशक्ति भी किसी विरले पुरुषकोही प्राप्त होतीहै। यह तो कुछभी नहीं है पर इससे अधिक आश्चर्यकी बात यहहै कि ऐसे प्रचण्ड पण्डित गणोंसे स्वयं काव्यरचना न करते बनेगी इसके सिवाय वे काव्यकी यथार्थ परीक्षा वा उसका आस्वादन करसकेंगे या नहीं सोभी ठीक नहीं कहा जासक्ता। इसके उदाहरण स्वरूपमें इंग्लैंडके प्रचण्ड पण्डित डाक्टर जानसनका नाम कुछ अंशमें लिया जासक्ताहै और इधरके हमारे पुराने शास्त्रीभी प्रायः ऐसेहीहैं। बाह्यसृष्टिका यथार्थ वर्णन करनेके लिये, उस प्रदेशको किञ्चित्काल लों स्वयं देखनेसे उसके विषयमें मनमें जो कल्पना आसकती है सो उसके विवरण चित्र देखने वा वर्णन पढ़नेसे दीर्घकालमें भी नहीं आसकती; यही

बात अन्तःसृष्टि के विषयमेंभी घटित होती है। रस विशेषके प्रत्यक्ष अनुभवसे उसका जो रूप ध्यानमें आसक्ताहै वह केवल शुष्क वर्णनके बारबारके पढ़नेसे यदि मनमें आही गया तो अस्पष्टरूप से आताहै। सारांश काव्यत्व सुतरां रसिकताके लियेभी विद्वत्ता की विशेषरूपसे आवश्यकता नहीं है। उक्त दोनोंको उलटी उसकी बाधक होतीहै ऐसाही कहना चाहिये। उससे यदि कोई उपयोग हुआहीहो तो कविताके उक्त बाह्य एवं अप्रधान गुण बड़े परिश्रम उठानेसे प्राप्त होसक्ते हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं होसक्ता पर उसके तत्त्वोंतक उसकी गति कदापि नहीं हो पाती।

(१३) उपसंहारमें यह प्रतिपादित हुआ कि जो निसर्गतः कवि है वह स्यात् विद्वान्भी हो—जैसे कालिदास, जगन्नाथ पण्डित राज, तुलसीदास, केशवदास, हरिचरणदास, मिल्टन्, बैरनादि वा न भीहो—जैसे शेक्सपियर, बर्न्स * तुकारामादि। पर यह मानना अत्यन्त असंगतहै कि जितनी विद्वत्ता अधिक हो उतनी काव्यशक्ति अधिक होतीहै। इसका स्पष्टीकरण पीछे उदाहरण द्वारा करही दियागयाहै—सिसरो, जान्सन् और हमारे पुराने शास्त्रीगण। इनके उदाहरण अधिक न देनेका कारण जो किञ्चित् विचार करेगा उसे तत्क्षण ज्ञात होजायगा। विद्वत्ताको अशेष गुणों का आगर माननेवाले हमारे भोले भाविकलोगोंको उसके पढ़ने से दुःख होगा। यहां हम उसे स्पष्टरूपसे नहीं लिखते, पर फिर भी सूचित किये देतेहै कि यह विधान उन विद्वानोंके अभिमान वा मूर्खताका योग्य दमन करनेवालाहै, और इसके योगसे उनलोगों ने भावी लोगोंको चतुरताका उत्तममार्ग प्रदर्शित कियाहै !

* गतशताब्दीमें यह कवि स्काटलैंड देशमें होगयाहै। इसकी समस्त आयु अर्थहीन दशामें व्यतीत हुई। यह जन्मभर भिया कृषिकर्म करतारहा॥

समालोचना।

> नीरक्षीरविवेके हंसाऽऽलस्यं त्वमेव तनुषे चेत्।
> विश्वस्मिन्नधुनाऽन्यः कुलव्रतं पालयिष्यति कः॥ *
>
> (भामिनीविलास)

सम्प्रति हमारी भाषामें ग्रन्थोंकी समृद्धिहो उत्तरोत्तर वह उन्नति ग्रहण करते जातीहै। अनुमान सैकडों छोटेबड़े, भले बुरे ग्रन्थ प्रतिवर्ष प्रकाशितहुए विना कोई संवत्सर खाली नहीं जाता। निःसंशय यह वार्ता हमारेलिये अत्यन्त हर्ष कीहै क्योंकि प्रतिवर्ष प्रकाशित होनेहार ग्रन्थोंमें यद्यपि सब ग्रन्थ प्रशंसनीय न हों अथवा उनमेंसे एकभी न हो पर इतना तो कहा जासकताहै कि उनके प्रणेतृगणोंने परिश्रम और समयका अपव्यय न कर कईमुद्रणालयके स्वामियोंको उनके कार्यमें सहायताही दी। परन्तु ऐसा मानलेना बड़ा साहसहै क्योंकि यह तो है ही नहीं कि प्रायःसबलोग विनोदार्थही ग्रन्थ प्रकाशित करातेहों। प्रथम तो जो ग्रन्थ छपवाता है वह यही समझकर छपवाताहै कि हमारे ग्रन्थको लेनेवाला कोई न कोई मिलही जायगा। दूसरे वह अपने मुद्रित करानेवाले ग्रन्थ की योग्यताको विना समझे उसे मुद्रित करानेके लिये प्रवृत्तही नहीं होता क्योंकि यश अपयशकी चिन्ता सभीको रहती है।

(२) जिस प्रकार दिनोंदिन ग्रन्थोंकी संख्या बढती जातीहै उसी प्रकार उन्हें पूर्णरूपसे लाभ देनेहारे उनके गुण दोष विवेचक समालोचक गणोंकी भी संख्याका बढ़ते जाना अत्यन्त आवश्यकहै। परन्तु यह नाममात्रको भी कहीं नहीं दीखपड़ता। ग्रन्थोंकी आधुनिक अवस्था तो ऐसी है कि ग्रन्थोंके मुद्रित होते

---

* हे हंस ! जल और दूधको पृथक् पृथक् करनेके लिये यदि तूही आलस्य करेगा तो संसारमें तेरे उक्त कुलव्रतका पालन अन्य कौन करेगा ?

ही उनकी कुछ तो यदृच्छया व्यवस्था हो जातीहै अर्थात् कई तो लोकाश्रय से बिक जाते हैं और कई सिफारिश और वसीले आदि से, पर अधिकांश ग्रन्थकर्ताकेही पास पडे रहते हैं वे इतने अधिक कि उन्हें देख देख उसे अनुताप होने लगताहै कि मुझे यह कहांसे सूझा। ग्रन्थोंका लोकाश्रय अनिश्चित होने के कारण उन्हें मुद्रित करानेके लिये ग्रन्थकर्ताओंको सहसा धैर्य नहीं होता। जिस प्रकार इंग्लैण्डमें बडे आदमी ग्रन्थकर्ताओंकी श्रेणीमें पाये जातेहैं उस प्रकार हमारे देशमें इस समय एकभी नहीं दीख पड़ते; और वैसे लोग हमारे देशमें कब उत्पन्न होंगे इसकी ठीक ठीक तर्कणा भी नहीं होसकती। जिन आधुनिक विद्वानोंके ग्रन्थकर्ता होनेपर लोग उन्हें अवश्यमेव आश्रय दें, अथवा जिनसे ज्ञानवृष्टि के लाभ की चातकवत् आशा करतेहैं, उन लोगोंको स्वप्नमें भी ग्रन्थ लिखनेका विचार नहीं होता। इससे यही ज्ञात होताहै कि हमारे यहां प्रायः वेही लोग ग्रन्थकर्ता होतेहैं जिनके पास बीसोंबिस्वा दरिद्रताके अतिरिक्त और कुछ नहीं रहता। ऐसे पुरुषने डरते डरते बडेही साहससे कोई ग्रन्थ प्रकाशित किया और उसे यदि किसीनेभी न पूछा तो बस वहीं उसके धैर्यका अन्त होगया। एक तो पहलेही टुटपुंजिया दूसरे ऊपरसे व्यापारकी भारी ठोकर लगकर जब आंख खुलगई तो फिर वह काहेको ऐसे बखेडेमें पडने जाता है। इस प्रकार वह तो हतोत्साह होही जाताहै पर उसकी इस शोचनीय दशाको देख दूसराभी गतधैर्य होकर इस कार्यसे पीछे हटताहै। सारांश हमारे आधुनिक ग्रन्थकारोंकी तो यह दशा है। ग्रन्थकी छपाई यदि दैववशात् वसूलही होगई तो प्रकाशक लोग समझ लेतेहैं कि इस व्यवसायमें हमें आधा लाभ होचुका अब आगेको देखा जायगा। सौभाग्यवशात् यदि प्रका-

शित सब ग्रन्थ विकगये और प्रकाशक को कुछ लाभ होहीगया तो पुनः द्वितीय संस्करणका अवसर उसे क्यों मिलनेलगा ? आजलों जो सैकड़ों ग्रन्थ हमारी भाषामें लिपिबद्ध हुएहैं उनमेंसे जिन्हें सरकारकी ओरसे सहायता मिली है उनके अतिरिक्त ऐसे बहुतही थोड़े ग्रन्थ मिलेंगे जिन्हें द्वितीय आवृत्तिका सौभाग्य प्राप्त हुआ हो। यदि होंगेभी तो वे इतने थोड़े (दो चार) कि उनका होना नहींही माना जायगा। पाठक ! देखिये यह कैसी विलक्षण बात है। जिस हमारे देशमें सम्प्रति विद्याभिरुचि चारों ओर फैल रहीहै, जिस हमारे देशमें प्रतिवर्ष नगरमें मुद्रणालय, पुस्तकालय, समाचारपत्र पुस्तकें, सभा आदि नित्य नया स्वरूप धारणकर उत्पन्न हुआ करतीहैं, जिस हमारे देशमें देशाभिमान, विद्वत्त्व, कवित्व, वक्तृता आदिही चारों ओर जहा तहां दीख पडती हैं, जिस हमारे देशमें नित्यप्रति नवीन २ धर्म स्थापित होरहेहैं, देशके गतकला कौशल्यको पुनः प्राप्त करनेके लिये महत् महत् प्रयत्न हो रहे हैं, कविताकी नूतन शाखायें स्थापित होरहीहैं, नूतन २ यन्त्र प्रस्तुत कर विलायती व्यापारियोंके दांत खट्टे करनेके लिये शतशः प्रयत्न किये जारहेहैं, कहांतक कहें जो बातें भारतवर्षमें और सम्पूर्ण एशिया खण्डमें कदापि किसीने श्रवणभी न कीथीं उनके—अर्थात् प्रति डिमासथेनीस, प्रतिसिसरो और प्रतिपार्लियामेण्टका यहा चनाना—इत्यादि महत् कार्योंके सिद्धयर्थ भी लोग आगे पीछे नहीं देखतेहैं उसी हमारे देशमें इंग्लैण्ड कैसे सामान्य ग्रन्थकर्ताओंका न दीख पडना, और वैसेही सैकडों ग्रन्थवालोंको प्रथम संस्करण के व्यतिरिक्त दूसरे संस्करणके प्रकाशितकरनेका धैर्य न होना, यह कैसे आश्चर्यकी बातहै ? हमारी लोक सभाकी ओरसे प्रेषित भारतवर्षके प्रतिनिधि हौसआफ कामन्समें वहाके पार्षदगणोंके

साथ जब कुर्सीसे कुर्सी लगाकर बैठेंगे तब यहांकी विद्याकी उन्न स्थितिको सुनकर वहांके सभ्योंको कितना आश्चर्य होगा। वे लोग जब ऐसा समझतेहैं कि देशको गौरव प्राप्त होनेके लिये उस की भाषा उन्नत दशाको प्राप्त होनी चाहिये, उसमें सब प्रकारके विषयोंके बडे २ ग्रन्थ होने चाहिये, लोगोंको ऐसा विलक्षण धैर्य धारण करना चाहिये कि वे जिस कार्यके लिये आगेको पांव बढ़ावें उससे फिर पीछे न हटें, कि जिससे उनकी कीर्ति दिगन्तरव्यापिनी हो, यह नियम जो प्रायः सभी बडे २ राज्यों में पायाजाताहै, पर इसे हमारेही देशमें न देख उन्हें कितना आश्चर्य होगा। निःसंशय जो लोग अपनी देशभाषाकी योग्यता हलकी समझते है, उसमें कोष वा व्याकरण लिखने का विचार जिन्हें कभी स्वप्नमेंभी नहीं आता, वह जीतिरहे वा मरे, पर वे उसके लिये निश्चिन्तही रहते हैं, जिनके यहां पाच पचीस वर्षतोंभी रहने योग्य कविता नहीं होती, जिनके यहांके महान् २ वक्ताओंकी वक्तृता एकबारही सुनने से जी उकता उठताहै, जिनकी भाषामें सर्वसाधारणको ज्ञान प्राप्त करनेकी कोई सम्भावनाही नहींहै, जिनके इतिहास, पदार्थविज्ञान, चिकित्सादि विषयोंके ग्रन्थ मानो लडकियोंके खेलके तुल्यहैं, जिनके व्यापारियों के समाज कौशल्य-शिक्षालय, भजन पूजन समाज, पुस्तकालय आदिका समारम्भ देखाजाय तो योरोपसे आयेहुए नवीनसाहबको पेट दबा दबाकर हँसीआवे—उन्हीं लोगों को महान् सभा पार्लियामेण्टमें स्थान प्राप्त करने के लिये प्रयत्न करते देख ऐसा कौनहै जो चकित न होगा और दांतोंमें अंगुली न दबावेगा? अस्तु, साराश हमारी भाषाकी वर्तमान स्थिति और ग्रन्थप्रणेतृगणोंका आदर ये दोनों देश स्थितिके समीचीन सूचक हैं और इसीके साथ २ यहभी जान पडताहै कि जबलौं यह चिह्न

ऐसेही निष्कम्प दृष्टिगोचर होते रहेंगे तबलों देशकी उन्नतिके लिये लोग कितनाही मराकरें पर उनका प्रयत्न सब व्यर्थ होगा।

(३) हमें पूर्ण विश्वासहै कि जो लोग यह निश्चयपूर्वक जानते हैं कि देशभाषाका सुधार और उसमें उत्तमोत्तम ग्रन्थों की सृष्टि की अधिकाई आदिका देश हितसे अत्यन्त घनिष्ट-सम्बन्ध रहता है,-उन्हें हमारा उक्त कथन यथार्थही जान पडेगा। अब उक्त बातें सम्पादित होनेके लिये क्या होना चाहिये? इसका विचार करते है। यह तो हम कहीचुकेहैं कि ग्रन्थोंके यथार्थ परीक्षकोंका होना अत्यावश्यकहै क्योंकि उनके द्वारा भाषाको बहुत लाभ पहुँचता है। इस लेखमें इसका वर्णन पीछेसे करेंगे सम्प्रति यह लिखते हैं कि आजकल ग्रन्थोंके गुण दोषोंका विवेचन कहातक होताहै॥

(४) प्रायः सबलोग यह जानतेही होंगे कि आज कलके हमारे कई समाचार-पत्रोंके अग्रभागमें अङ्गरेजी पत्रों से उद्धृत कर एक लम्बी चौड़ी प्रतिज्ञा लिखी रहती है कि अमुक अमुक विषयोंका वर्णन इस-पत्रमें रहा करेगा। इन विषयों में से (Literature) अर्थात् साहित्यकी ही प्रतिज्ञा बहुधा पाईजाती है। परन्तु यदि संपूर्ण पत्र पढ़के देखाजाय तो तत्क्षण ज्ञात होजायगा कि उक्त प्रतिज्ञा संज्ञा शेषही रहती है। यह अवस्था केवल एक दो अङ्कों मेंही नहीं रहती वरन इसीप्रकारसे महीनेके महीने और साल के साल व्यतीत होजाते हैं। उक्त प्रतिज्ञाकी पूर्तिमें पत्रके दोनों ओर नवीन ग्रन्थोंके जो विज्ञापन दियेजातेहैं अथवा 'कौन कहता है हैजेकी दवा नहीं है' आदि जो मज़ेदार चुटकुले दियेजाते हैं यथार्थमें उनसे उनके पाठकोंको भाषा का अथवा उसके ग्रन्थों का कितना ज्ञान होता होगा यह उक्त पत्रोंके सम्पादक वा उनके पाठकही जानसकतेहैं। भला इसे जाने दीजिये यह माना जाय-

कताहै कि सम्पादकोंका यह मुख्य विषय न होनेके कारण और प्रति संख्यामें उक्त प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये अवकाश का मिलना असम्भव होनेके कारण उसकी पूर्ति वे नहीं करसकते पर महीने दो महीने में जब कोई नवीन ग्रन्थकर्ता अपना ग्रन्थ उन्हें समालोचनार्थ समर्पित करताहै, तब तो उक्त प्रतिज्ञा पूर्ण करनेका उत्तम अवसर उन्हें मिलताहै पर ऐसे समय पर भी हमारे सम्पादकगण जिस युक्तिका प्रयोग करते है वह बहुत लोगोंको विदितहीहै। कोई कोई सम्पादक महाशय 'प्राप्त' इस शीर्षकके नीचे उक्त ग्रन्थप्रणेताका नाम यथावत् छापकर उसे ग्रन्थप्रेपणके लिये अनेकानेक धन्यवाद देदेते हैं। बस यही उसके ग्रन्थकी समालोचनाहै। कोई सम्पादक महाशय धन्यवाद प्रकाशितकर इतना और भी लिख देते हैं कि ग्रन्थकी छपाई और जिल्दबन्दी बहुत सुन्दरहै, कागज़ बहुत बढ़ियाहै इत्यादि मीठी मीठी बहुत प्रशंसा करदेते है। इस प्रकारकी गुणदोपविवेचनसम्पन्न समालोचना (रसीद) लिखने के लिये उन विद्वान् सम्पादक महाशयोंको कितना न अधिक परिश्रम करना पडता होगा! संपूर्ण प्रशंसा कागज़के कारखाने वाले को तथा छापने और जिल्दबन्दी करनेवालेकोही प्राप्त हुई और हमारे निजके लिये कुछभी न रहा यह देख उस विचारे ग्रन्थरचयिताको कैसा संतोष होता होगा! अस्तुः यही दो प्रकार हैं कि जिनके द्वारा प्रायः नूतन ग्रन्थोंपर सम्मतियां प्रकाशित की जाती है। पर इनके अतिरिक्त समालोचना करनेकी एक बढ़िया तीसरी रीति औरभी है। वह यह कि 'अमुकर ग्रन्थ हमें प्राप्त हुआ इसके लिये हम तद्रचयिताको बहुत धन्यवाद देतेहै, इसकी समालोचना आगामि अङ्कमें प्रकाशित कीजायगी'। यदि इतनाभी अपनेको बद्धकरलेना मनमें न रहा तो 'समालोचना वारान्तर

प्रकाशित होगी ' इतना छापदिया कि गङ्गा नहाये। आगामि अङ्क
ाता है काहेको और उसमें समालोचना प्रकाशित होतीहै काहे
ो !' इस वारान्तर वा आगामि संख्याका आना मानो अगस्त
ी दूसरी फेरीहीहै। भोले महात्मा बड़े वड़ोंसे प्रणाम करा उन्हें
ाश्वासनदे जैसे भुलाकर कहतेहैं कि बच्चा जरा ठहरो देखो हम
भी रामेश्वरसे आते हैं ऐसा कह जो लम्बेहुए तो पुनः आपका
ागमन होताही काहेकोहै। इसीप्रकार हमारे उक्त संपादक महा-
ायोंका भी समय मारलेजानेकाही अभिप्राय रहताहै। सारांश
ो कोई नवीन ग्रन्थ रचकर उसे पत्रसंपादकोंकी सेवामें समालो-
चनार्थ प्रेरित करताहै, उसकी मनीषा उक्त तीनों रीतियोंमें से ही
हुधा किसी एकद्वारा पूर्ण होती है।

भला कहिये तो सही कि उक्त विचित्र स्थितिको देखकर मनमें
या आताहै। बहुधा मनमें यही आता होगा कि उक्त स्थितिका
कारण लोगोंके ग्रन्थावलोकनका आलस्यही है वा गुण दोष
परीक्षाका काम लोगोंको किंचित् भारी मालूम देताहै। कुछभी हो,
निदान इतना तो सत्यहीहै कि ग्रन्थरचयिता गणोंका ऐसा अप-
मान होना हमारी विद्वत्ता और देशाभिमानको अत्यन्त लाञ्छन
है, इसके अतिरिक्त उससे भाषाकी और तद्द्वारा लोगोंकी बड़ी
ही हानि होतीहै। ग्रन्थकी प्रशंसा करते समय अधिकाश उसके
जिल्दवन्दी और छपाई आदिकीही प्रशंसा करना यह कितना
अनुचितहै। कसाई लोग जैसे पशुओंकी परीक्षा उनके अङ्गोंका
स्पर्शकर किया करतेहैं, वही हिसाव ग्रन्थोंकाभी है क्या? साधा-
रण प्रार्थनाके समान धर्मपुस्तक वा जुविली प्रमोदिकाके समान
ग्रन्थको वहुत सुन्दर कपड़ालगा उसकी जिल्दवन्दी उत्तमप्रकार
की और उसपर सुन्दर मीना और जड़ावका काम किया तो

कताहै कि सम्पादकोंका यह मुख्य विषय न होनेके कारण और प्रति संख्यामें उक्त प्रतिज्ञाकी पूर्तिके लिये अवकाश का मिलना असम्भव होनेके कारण उसकी पूर्ति वे नहीं करसकते पर महीने दो महीने में जब कोई नवीन ग्रन्थकर्ता अपना ग्रन्थ उन्हें समालोचनार्थ समर्पित करताहै, तब तो उक्त प्रतिज्ञा पूर्ण करनेका उत्तम अवसर उन्हें मिलताहै पर ऐसे समय पर भी हमारे सम्पादकगण जिस युक्तिका प्रयोग करते हैं वह बहुत लोगोंको विदितहीहै । कोई कोई सम्पादक महाशय 'प्राप्त' इस शीर्षकके नीचे उक्त ग्रन्थप्रणेताका नाम यथावत् छापकर उसे ग्रन्थप्रेषणके लिये अनेकानेक धन्यवाद देदेते हैं । बस यही उसके ग्रन्थकी समालोचनाहै । कोई सम्पादक महाशय धन्यवाद प्रकाशितकर इतना और भी लिख देते हैं कि ग्रन्थकी छपाई और जिल्दबन्दी बहुत सुन्दरहै, 'कागज़ बहुत बढ़ियाहै इत्यादि मीठी मीठी बहुत प्रशंसा करदेते हैं । इस प्रकारकी गुणदोषविवेचनसम्पन्न समालोचना (रसीद) लिखने के लिये उन विद्वान् सम्पादक महाशयोंको कितना न अधिक परिश्रम करना पडता होगा ! संपूर्ण प्रशंसा कागज़के कारखाने वाले को तथा छापने और जिल्दबन्दी करनेवालेकोही प्राप्त हुई और हमारे निजके लिये कुछभी न रहा यह देख उस विचारे ग्रन्थरचयिताको कैसा संतोष होता होगा ! अस्तु; यही दो प्रकार हैं कि जिनके द्वारा प्रायः नूतन ग्रन्थोंपर सम्मतियां प्रकाशित की-जाती है । पर इनके अतिरिक्त समालोचना करनेकी एक बढ़िया तीसरी रीति औरभी है । वह यह कि 'अमुक२ ग्रन्थ हमें प्राप्त हुआ इसके लिये हम तद्रचयिताको बहुत धन्यवाद देतेहैं, इसकी समालोचना आगामि अङ्कमें प्रकाशित कीजायगी ' । यदि इतनाभी अपनेको बद्धकरलेना मनमें न रहा तो ' समालोचना यारान्तर

रनेका सामर्थ्य जितना इनमें होसकताहै उतना दूसरोंमें नहीं सकता। इसका कारण यहीहै कि अंगरेजी भाषामें जानसन्, काले आदि सुप्रसिद्ध ग्रन्थकर्ताओंके लिखे हुए उक्त विषय पर त्तमोत्तम ग्रन्थहैं, उनका परिचय कालेजके छात्रोंको होताही रहता , इनके व्यतिरिक्त उन्हें औरभी बहुत कुछ बोध होजाताहै। सीलिये किसी एक ग्रन्थ पर जैसी सारगर्भित सम्मति वे देसकते वैसी भाषा परिडत वा व्युत्पन्न शास्त्रीभी न दे सकेंगे। अस्तु; ह तो केवल उनकी शक्तिके विषयमें कहागया अर्थात् इतना करने ी उनमें शक्तिहै वा शक्ति नहीं तो योग्यतातोहै। इससे, यह नहीं ान लेना चाहिये कि इतना वे सच करतेही हैं। शेक्सपियर ाहिबकी नायिका कहतीहै—

If to do were as easy as to know what were good to do chapels had been churches and poor men's cottages princes' palaces ! *

वर्तमान समयमें इसी न्यायकी किंचित् रूपान्तरसे प्रचुरता दीख पडतीहै। परन्तु इस उपेक्षाके कारण देशकी जितनी हानि होती है वह प्रसिद्धहीहै। ग्रन्थोंका सच्चा प्रेमी कोई न रहनेके कारण उत्तम ग्रन्थकर्ताओंको निकृष्टोंकी श्रेणीमें दैवगतिसे रहना पडता है, अथवा अपनी योग्यता प्रकट करनी हो तो आत्मश्लाघाका अश्लाघ्य कृत्य करनेके अतिरिक्त उन्हे दूसरा मार्गही नहीं रहता। परन्तु इस मार्गका अनुधावन सदैव फलदायक नहीं होता। इसी कारण बहुधा लोग उन्हें तिरस्कृत दृष्टिसे देखने लगतेहैं। इसी लिये निष्पक्षपातपूर्वक ग्रन्थोंकी योग्य प्रशंसा करनेवाले यदि थोडे

---

* अमुक कार्यका करना अच्छाहै यह जान लेना जैसा सुगमहै, वैसेही उसका करनाभी यदि सुगम होता, तो छोटे २ शिवाले बडे बडे कैलास बन जाते और दीन दरिद्रों की झोपडियोंके स्थानमें राजभवन होजाते ॥

क्या वह पुस्तक यथार्थमें पढनेके योग्य होसकतीहै ? और 'तुलसी
कृत रामायण' वा 'सूरदासजीके पद' कैसेही खराब कागज
खराब अक्षरोंमें छपे हों और उनकी जिल्दबन्दी कैसीही खरा
हो तो क्या उनकी योग्यता कुछ कम होगई ? रद्दी लेनेवाला पं
सारी वा अत्तार पुस्तकोंके बाह्य स्वरूपसे यदि उनकी परीक्षा क
तो यह उसे फवतीहै पर स्वयं अर्थज्ञ और अत्यन्त मार्मिक का
के जो लोग किसी एक ग्रन्थके गुणोंकी प्रशंसा करतेहै वेही यदि
ग्रन्थकी परख पंसारी वा अत्तारके समान करें तो यह कितनी
हँसीकी बातहै । यह गुण प्रशंसा क्या हुई बरन ग्रन्थकर्ताकी मा
हानिही हुई ऐसा समझना चाहिये, और उसीप्रकार उक्त गुण
प्रशंसकको भी बडा संकोच मानना चाहिये । परन्तु उभय पक्ष
बहुधा यह वृत्ति दीख नहीं पड़ती, दोनोंको बाह्य परीक्षाही व
मालूम देतीहै । साराश इस प्रकारकी ग्रन्थ परीक्षासे भाषाका नि
तान्त अहित होताहै क्योंकि यथार्थ परीक्षक कोई भी न होने
कारण कैसाही ग्रन्थ क्यों न हो 'टकासेर भाजी टकासेर खाजा
इस न्यायसेही उसकी योग्यता प्रायः स्थिर कीजातीहै । 'मधु
मालती' भी सुरस, चन्द्रकान्ताभी औरभी सुरस । राजा लक्ष्मण
सिंह कृत 'शकुन्तला का' उत्कृष्ट अनुवाद जैसा वैसाही 'ऐजय
लाइकइट' का एक सडा गन्दा अनुवाद भी उत्कृष्ट यह बात तो
निर्विवादितहै कि सब ग्रन्थ समान योग्यताके कदापि नहीं होसकते
पर अमावास्याकी घोर अंधेरी में जैसे प्रायः सब पदार्थ समान
आकाररङ्ग एवम् सौन्दर्यके भासित होतेहै वैसेही सत्परीक्षकके अ
भावके कारण सब ग्रन्थ समान होजाते है । इसके कहनेकी कोई
आवश्यकता नहीं है कि हमारे नूतन विद्वानोंकी स्वभाषाकी ओर
उपेक्षा बुद्धिका होनाही उक्तकारणोंमें प्रधानहै क्योंकि ग्रन्थकीपरीक्षा

समान इन्हें अन्यान्य व्यवधान बिलकुल नहीं हैं अतएव उक्तगुण दोष विवेचनाका काम वस्तुतः विशेषकर इन्हीं मासिकपत्रोंका है। देशमें प्रचलित राज्य, व्यापार और अन्यान्य लौकिक वार्ताओंके विषयमें लोगोंकी चित्तवृत्तिको समान करना जैसे समाचारपत्रों का कर्तव्यहै वैसेही मासिकपत्रोंका विद्याके सम्बन्धसेहै अर्थात् अनेकानेक विषयोंके विषयमें पाठकोंको जिसके द्वारा थोड़ेहीमें उत्तम बोधहो उसका अनुष्ठानही उनका कर्तव्यहै और इसीके साथ साथ विद्याकी उन्नतिके लिये सरकार वा लोगों द्वारा जो यत्न किये जातेहों उनकी चर्चा करनाभी इन्हींका काम है। अतएव जितने नवीन ग्रन्थ प्रस्तुतहों उनमेंसे यथार्थमें लाभदायक कौनसे और अपकारक कौनसेहैं इत्यादि लोगोंको सूचित करना यहभी मासिक-पत्र संपादक महाशयोंकाही कर्तव्यहै * विलायतके मासिक और त्रैमासिक जितने पत्र हमारे दृष्टिपथमें आतेहैं उन सबमें यह विषय भलीभांति संपादित किया हुआ दीख पड़ताहै। किसी एक विषय पर नवीनग्रन्थ लिखकर प्रस्तुत हुआ न हुआ कि उसके विषयमें मासिकपत्रोंके द्वारा चर्चा होने लगतीहै। यह तो क्या पर पुस्त-कालय, वादविवादवर्द्धिनी सभा, चाह पानी आदि पीनेके स्थान, और तो क्या भोज प्रसंग आदिमेंभी उक्त चर्चा जहां तहां चलतीही रहती है। अस्तु; इससे यह सिद्धहुआ कि नूतन पुस्तकोंके विषय में निज २ सम्मतियां प्रदर्शितकर उनमेंसे लोकाश्रयके पात्र कौन सी और अपात्र कौनसी हैं इत्यादि निश्चित करनेका अधिकार प्रधानतः मासिकपत्रोंकाही है। परन्तु हमारी भाषामें जो पत्रहैं वा थे उनमेंसे उक्त कार्य भलीभांति जिसने किया वा जो करताहो ऐसा

* यदि काशी-नागरीप्रचारिणी पत्रिका इस ओर ध्यान दे तो भरोसाहै कि अन्य पत्र पत्रिकाभी उसका अनुकरण करने लगेंगी॥

लोगभी रहें तो उत्तम ग्रन्थप्रणेताओंको उत्साह मिलताहै, और उन लोगोंको उदार आश्रय मिलनेके कारण भाषामें उत्तमोत्तम ग्रन्थोंकी संख्या क्रमशः बढती जातीहै और उसी प्रकार निकृष्ट ग्रन्थ अलग करदिये जातेहैं सुतरां उत्तरोत्तर उनका ह्रास होता जाताहै। परन्तु यह जब नहीं रहता तब यथार्थहीमें सम्प्रतिकी नाई क्या उत्तम और क्या अनुत्तम दोनों एकही होजानेके कारण भाषाको अत्यन्त हानि पहुँचती है और लोगोंको उत्तम उत्तम ग्रन्थ मिलाकरे और उनके योगसे उनकी मानसिक शक्तियां बढा करें यह तो रहताहै एक ओर पर नित्यप्रति उन्हें उलटी हानियां उठानी पडतीहै।

(६) यहां तक हमारी भाषाके ग्रन्थकर्ताओंकी आधुनिक स्थितिके विषयमें विशेषतः निरूपण हुआ। अब उक्त विषयपर सामान्यतः विचार करतेहैं अर्थात् समालोचकगणोंको कौन कौनसे गुण और साधन आवश्यकहैं, समालोचना करनेकी प्रथा कबसे प्रचलितहुई, इससे हिताहित कौन कौनसेहैं इत्यादिका वर्णन करेंगे।

(७) प्रथम इस प्रथाका वृत्तान्त। हमारे देशमें यह प्राचीन समयमें जैसी चाहिये वैसीनथी और अर्वाचीन कालमें तो लुप्त प्राय होगईथी पर अभी दस पन्द्रह वर्षोंमेंही अंगरेजी ग्रन्थकर्ताओं के परिचयसे केवल कहीं २ इसका प्रारम्भ होचलाहै। अब आधुनिक स्थितिके विषयमें लिखतेहैं। यहतो अभी ऊपर लिखा चुकेहैं कि अंगरेजी विद्याका फैलाव इधर उधर होनेके कारण ग्रन्थोंके गुण दोष विवेचनाकी प्रथा चल निकली। प्रतिवर्ष जो नवीन ग्रन्थ मुद्रित होते हैं, समाचारपत्रोंद्वारा उनकी थोडी बहुत चर्चा होतीहै, और इसी उद्देशसे मासिक पत्रोंकी सृष्टि हुई। इन पत्रोंका मुख्यतम विषय भाषा और विद्याही है। समाचारपत्रों

कहीं एक मार्मिक वचन लिखाहै कि ऐसे बहुतलोग दीख पड़ते कि जो हम क्या नहीं जानते यही नहीं जानते । अभिप्राय है कि उक्त प्रकारके समालोचकगण किसी अर्थके नहीं । जिस थके दोष गुण लोगोंको विदित करनेहै वह ग्रन्थ स्वयं पूर्णतया मझमें आजाय तभी समालोचकको उचितहै कि उसकी समालोचना करनेका साहस करे। नोचेत् थोडासा समझ बूझकर दि समालोचना प्रारम्भ करदी तो वह उक्त समालोचकके लिये डम्बनामात्र होगी और लोगोंमें सत्यका प्रचार तो रहेगा एक ओर पर मूर्खतागर्भित सम्मतियामात्र चारों ओर फैल जायँगी।

(६) दूसरा गुण सत्यप्रीतिहै । यह गुणभी उक्त गुणोंके समान समालोचनाके लिये अत्यन्त आवश्यकहै सुतरा इसकी योग्यता उक्त गुणोंसेभी अधिकतरहै । पर यह गुण संसारमें कचित्ही पाया जाताहै। दूसरेके ग्रन्थोंकी समालोचना करनेमें सत्यका अवलम्ब ही समुचितहै । और समालोचना करनेका प्रधान अभिप्रायभी यहीहै कि उसके योगसे सत्यका उत्कर्ष और असत्यका ह्रासहो। पर यह बहुतही थोडा देखनेमें आताहै । आज कल तो समालोचकगणोंके सामान्यतः उद्देश्य द्वेषबुद्धि और मत्सरमय रहतेहैं, वा योंही विनोदार्थ ग्रन्थकर्ताओंका उपहास और उनकी फजीती करने के रहतेहैं । यदि यह न रहा तो यह तो अवश्यही रहताहै कि हमारा नाम लोगोंको विदितहो और उसीके साथ हमारी विद्वत्ता भी उन्हें प्रदर्शितहो। अब यह बात सत्यहै कि उक्त दुष्ट मनोवृत्तियों की प्रेरणासे किसी एक ग्रन्थकी चर्चा करनेपरभी यदि उसमें असत्यताका लवलेश न भी रहा और वह दोषपात्र न भी हुई तौभी उक्त वृत्तियोंका अवलम्ब सर्वथैव निन्द्य एवं अश्लाघ्यहै । सुविचारके योगसे जिनके मानस उदार होगयेहैं वे तो अपने

हमें एकभी नहीं दीख पडता। अस्तु; उक्त संपादनसे यह ...
हुआ कि ग्रन्थोंकी समालोचना करनेकी प्रथा हमारी भाषामें
नईही प्रारम्भ हुईहै और अद्यावधि उसका प्रचारभी बहुत
है। उसकी उन्नति भाषावृद्धि और सर्वसाधारणके हितके
अत्यन्त आवश्यकहै।

(८) यहां तक समालोचनाके इतिहासका वर्णन हुआ
अब समालोचना करनेवाले लोगोंको कौन कौनसे गुण आ
श्यकहैं उनके विषयमें लिखतेहैं। प्रथमतः मूल ग्रन्थका ज्ञान,
समालोचक चाहे कैसाही विद्वान्हो पर यदि उसे मूल
ज्ञान नहीं है तो उसका समालोचना करना व्यर्थहै। जिस
को किसी एक वस्तुका पूर्वमें ज्ञान नहीं रहता सुतरां वह उस
बिलकुलही नहीं जानता, यदि वह उसके विषयमें स्वकीय सम्मति
प्रकाशित करे तो यह तो प्रकटही है कि उसकी उक्त सम्मति
शोभाको कदापि प्राप्त न होगी। परन्तु मनुष्यकी मनोवृत्तिका
ऐसा कुछ चमत्कारहै कि; उसे निज अज्ञानकी तर्कणा तक सहन
नहीं होसकती। ऐसे सद्विद्वान् बहुतही थोड़े मिलेंगे कि जो यह
निश्चयपूर्वक जानते है कि अमुक २ विषयको हम भलीभांति
नहीं जानते अतएव उसपर निज सम्मति प्रकाशित करनेके
लिये हम सर्वथैव अयोग्यहै। पर अन्य लोगोंमेंसे किसीकोभी
किसी एक विषयमें पूछिये बहुत करके उत्तरमें नाही तो कभी
कहेगाही नहीं। हर कोई अपने मनमें यही समझताहै कि जितना
मैं जानताहूं उससे अधिक अन्य कोई क्या जानता होगा ? और
मेरी सम्मतिमें त्रुटि हो कैसे सकती है ? बहुतेरे लोगोंके मन इस
मूर्खतापूरित दुरभिमानसे दूषित होनेके कारण किसी एक विषय
पर यथोचित सम्मति देनेवाले लोग बहुतही थोड़े मिलेंगे। केवल

समालोचना संसारमें चिरकाललों मान्य होकर स्थिर रहेगी।

(१०) तीसरा गुण शान्तस्वभावहै। समालोचकोंके लिये यह गुणभी अत्यावश्यकहै और उक्तगुणके सदृश यहभी कचित्ही दृष्टिगोचर होताहै। इसका कारण ऊपरही कह चुकेहै। वह यहीहै कि समालोचकोंकी मनोवृत्तिया जैसा कि ऊपर कहचुकेहैं, द्वेष मत्सरादि वासनाओंसे प्रायः लिप्त होनेके कारण, उक्त गुणको उनके निकट स्थान नहीं मिलता। क्रोधके वशहो जब चित्त क्षुब्ध होजाताहै तब उसमें शान्तता कैसे रहसकतीहै। इस क्षोभकेभी उद्गार प्रकटित करनेके लिये मनको कुछ थोड़ी बहुत शान्ति आवश्यकहै। उसके अभावमें चित्तको यदि अतिशय क्षोभही हुआ तो मनोव्यापारके यथावत् संचालनमें कठिनाई पडेगी। अर्थात् जैसे जब मनुष्य अत्यन्त क्रुद्ध होजाताहै तब उसका गला भर आताहै और उसके मुखसे पूरे शब्दतक नहीं निकलते, वैसेही जब मनुष्य क्रोधवशहो विवेकशून्य होजाताहै तब उसकी बुद्धिभी गडबड़ा जातीहै। बोलना क्याहै और लिखना क्याहै इत्यादि उसे जैसे दूसरे समय सूझ सकताहै वैसा उसे उससमय नहीं सूझता और वह बिलकुल बेसुध होजाताहै और विक्षिप्तकी नाईं कुछका कुछ बरने लगताहै—यह यहांतक कि कुछ कालके पश्चात् स्वयं उसे ही अपनी विक्षिप्तताको देखकर विस्मित होना पडताहै। साराश मनशान्तताकी इतनी आवश्यकताहै कि क्रोधका बोलना वा लिखना यद्यपि युक्तियुक्त होही नहीं सकता, तो पुनः सहस्रावधि पाठकगणोंको मान्य होनेके योग्य ग्रन्थरचना करनेके लिये उस की जितनी आवश्यकताहै वह सबको विदितही है क्योंकि जब किसी विषयपर ग्रन्थ रचा जाताहै तब पहले उसे आद्यन्त सोच समझकर उसकी यथायोग्य व्यवस्था करनी पडतीहै, और वाक्य

निर्मल अन्तःकरणमें उन्हें कदापि आश्रयही नहीं देते। जिस किसी को किसी एक ग्रन्थकर्ताके गुण दोष संसारमें प्रकटकर दिखानेके लिये लेखनी उठानीहो, उसे उचितहै कि वह पहले सत्यका स्मरण कर उसीपर आरूढहो निज सम्मति लिखनेके लिये कृतनिश्चयहो। केवल परमार्थ बुद्धिके हेतु यह करना उसे उचित नहींहै, किन्तु उसे यह उत्तमतया जानना चाहिये कि स्वार्थसाधनमें भी यही मार्ग श्रेयस्करहै क्योंकि यद्यपि वह अपने पाण्डित्य और कीर्तिआधिक्य पर आरूढहो असत्य सम्मतियां प्रकाशितकर उन्हें लोगोंके मनमें दृढरूपसे स्थित करे और इसीप्रकार कुछ कालतक लोगोंको धोखा दे तथा उससे अपनी तात्कालिक कृतार्थता मानले, तौभी उसे यह निश्चयपूर्वक जानलेना चाहिये कि उसकी उक्त असत्यता कभी न कभी प्रकाशित होहीजायगी। इस विषयमें ह्यूम, जान्सन्, मेकाले आदि सर्वप्रसिद्ध उदाहरणहैं। पहलेने अपने इंग्लैडके इतिहासमें वहुतसा झूठा वृत्तान्त लिखाहै अतएव आज कल उसकी कीर्ति बहुतांश लुप्तप्राय होगईहै, और दूसरे दोनोंने भी कई प्रसंगोंपर अपनी टेढेपनकी लहरमें मग्न होकर मनमाना लिख माराहै इसी लिये यदि उनकी सम्मतियां ग्रहण करनीहों तो लोग उन्हें बहुत विचार एवं सावधानीपूर्वक ग्रहण करतेहैं। साराश सत्यरूप देवता का प्रताप बडाही प्रचण्डहै, उसकी प्रचण्ड क्षोभाग्निमें बडे २ उद्दण्ड ग्रन्थकर्ताओंकी राख होजाती है फिर छोटेमोटे ग्रन्थकर्ताओं की किधर क्या दशा होजातीहै उसे कौन जान सकताहै। इससे अब यहतो भलीभांति जान पडताहै कि हमारी उक्त सत्यानुकरण की सूचना स्वार्थसाधनके लिये भी समुचितहै। ग्रन्थोंके विषय में जो यथार्थ विवरण करेगा अर्थात् जितने गुणहों उतने गुण और जितने दोषहों उतने दोष यथावत् प्रदर्शित करेगा उसीकी

कदापि न पडेगा। वहतो अपने सयुक्तिक एवं सरल प्रमाणोंको लेकर आनन्दपूर्वक निश्चिन्त होरहेगा और निज विपक्षियोंकी गालियोंको तृणमात्रभी चिन्ता न करेगा, क्योंकि उनके ढोलके भीतरकी पोल तो उसे भलीभांति दीख पडेगी और इसके अतिरिक्त वह इसेभी निश्चयपूर्वक जानलेगा कि उक्त प्रकारकी गालियोंसे जो पण्डितहैं उन्हें कदापि भ्रम नहीं होगा। अस्तु, साराश मनकी शान्तता यह समालोचकके लिये नितान्त आवश्यक गुणहै क्योंकि इसके योगसे उसके लेखको एक विलक्षण प्रकारका गौरव एवं भव्यता प्राप्त होती है। जैसे कि उभय पक्षके वकीलोंके प्रमाण और उनके पक्षपात पूरित उत्तर प्रत्युत्तर सब सुनकर न्यायाधिकारी अपने उच्चासनसे निष्पक्षपातपूर्वक स्वस्थ अन्तःकरणसे उचित निर्णय सुनाताहै, उसीतरह समालोचककी सम्मति वकील कैसी एकपक्षकी कदापि न रहनी चाहिये किन्तु न्यायाधिकारीके निर्णयके सदृश केवल सत्यतागर्भितही रहनी उचितहै।

(११) चौथा गुण सहृदयता। जिस ग्रन्थकी समालोचना करनीहो उसमें अन्तःकरणके पूर्ण अभिनिवेशकी योग्यताको सहृदयता कहते हैं। यह योग्यता बहुधा सब मनुष्योंमें नहीं पाईजाती यदि पाईभी जाती है तो समानतापूर्वक नहीं पाई जाती। संसारमें जिस मतकी इतनी भिन्नता दीख पड़ती है उसका प्रधान कारण उक्त असमान सहृदयताहीहै। यहतो नैसर्गिकही है कि प्रत्येक मनुष्यकी जन्मसिद्ध प्रकृति निरालीही रहनेके कारण और आगेको जो २ अवस्थायें उसे प्राप्त होती जाती है वेभी सब मनुष्योंमें असमान होने के कारण, मनुष्य मनुष्य में रुचि भिन्नता उत्पन्न होती है। परन्तु उनमेंसेभी कई मनुष्योंमें उस सहृदयता का गुण अन्योंकी अपेक्षा अधिक पाया जाताहै अर्थात् दूसरोंकी

रचनादि अन्यगुण जितने उत्कृष्ट होसकें साधन करने पड़तेहैं और फिर यह वार्त्ता तो निर्विवादितहै कि क्रुद्ध मनुष्यकी अपेक्षा शान्त और स्थिरस्वभावका मनुष्य उक्त साधनाको अधिकतर साध सकेगा । दूसरी बात यहहै कि यदि किसी ग्रन्थपर सम्मति देनी हो और वह शान्त, गम्भीर और सभ्य रीतिपूर्वक दीजाय तो उस की योग्यता कुछ निरालीही मानी जातीहै और उसके योगसे जो कार्य सिद्ध होताहै वह क्रोधके आवेगमें व्यर्थ चिल्लाहट, पागल कैसी उलटी सीधी गालियोंकी बक बक, आदिसे कदापि नहीं होता । उक्त दूसरे प्रकारके समालोचकसे लोगोंका मन हटजाताहै और उसीके साथ२ उसकी नीचता और लड़कपन संसारमें प्रकटित होजाताहै । इसके अतिरिक्त उक्त गालिप्रदानसे उसके पक्ष को जो सबलता प्राप्त होनी चाहिये वहतो रहती है एक ओर पर उसकी दुर्बलता लोगोंमें भासित होनेलगतीहै, क्योंकि लोग यह पूर्णरूपसे समझ लेतेहैं कि जब इसने गालियोंकी वृष्टि इसप्रकार कीहै तबतो यही ज्ञात होताहै कि इसके पास गालियोंके अतिरिक्त अन्य प्रमाणोंका सञ्चय बहुतही कम होगा । इसके सिवा होलिकोत्सवमें गाली बकनेके समान गाली देनाभी ग्रन्थकर्ताओंके लिये अत्यन्त अप्रशस्तहै । मार्गमें कलह करनेवाले लोगोंमें, जैसे मुँहजोरीसे कलहका निर्णय होताहै अर्थात् जो बहुत जोरसे चिल्लाता है, उसीका पक्ष सच्चाहै यही आसपासके तमाशबीनलोग समझते हैं । ग्रन्थोंके विषयमें भी उसी नियमका अनुकरण करना निन्द्य एवं उपहासार्हहै । ऐसा करनेवालेको अपनी योग्यता नहीं जान पड़ती और दूसरे लोगोंको यह ज्ञात होजाताहै कि समालोचना करनेकी योग्यता इसमें जरासीभी नहींहै क्योंकि जिसके पास युक्तियुक्त प्रमाणहै वह शब्दपाण्डित्य और गालिप्रदानके बखेडेमें

इतना भारी पारितोषिक ! दूसरे एक समय पर किसीको किसी एक काव्यकी अत्यन्त प्रशंसा करते देख एक तत्ववेत्ताने कहा कि अः इसमें क्या है ? हमें यह बतलाओ कि इस काव्यके योगसे बाजारमें धान्य सस्ता होगया है क्या ? सारांश जिस विषयमें अपनी गतिही नहींहै उसमें पागलकी नाई प्रविष्ट होनेसे ऐसी विचित्र सम्मतियां उत्पन्न होती हैं अतएव किसीभी ग्रन्थकी समालोचना लिखनेके लिये लेखनी उठानेके पहिलेही समालोचक को यह भली भांति सोच लेना उचितहै कि समालोचना तो हम करेंहींगे पर इस विषयमें सहृदयता प्राप्त करनेकी हमारी कितनी योग्यताहै ? यदि योग्यता न हुई तो सम्मति वैसीही निश्चित होगी जैसी अन्धद्वारा चित्रपटकी होसकती है । यहांपर किसीको यह भ्रम उत्पन्न होगा कि प्रचुरपाण्डित्यके योगसे चाहे कोई विषय क्यों न हो उसकी समालोचना होसक्तीहै ? पर यह भ्रम उक्त जानसन्, मिल्ल आदिके उदाहरणोंसे पूर्णतया दूर होसकताहै । तात्पर्य निरे पाण्डित्यकी अपेक्षा इस सहृदयता गुणकी अधिकतर योग्यता है । इसी लिये ग्रन्थकी समालोचना यदि प्रचुर पाण्डित्यबलसे भी कीगई हो, तोभी उक्त गुणका अभाव होनेके कारण वह अनादरणीय होजाती है ।

(१२) इस प्रकार उत्तम प्रकारकी समालोचना करनेवाले समालोचकके आवश्यक गुणोंका यहांतक वर्णन हुआ । हम समझतेहैं इसमें अन्यलोगोंका भी अन्तर्भाव होसकताहै। अब संसारमें सामान्यतः जो ग्रन्थादिकोंकी समालोचना हुआ करतीहै वह कितनी योग्यताकी रहती है और किस २ प्रकारकी दृष्टिगोचर होती है इसके विषयमें थोडासा निरूपण करना आवश्यक है । प्रथमतः सब लोग यह सहजहीमें समझ सकतेहैं कि लोक व्यवहार

मनोवृत्तियोंसे वे अपनी मनोवृत्तिया विना प्रयास मिला सकते है।
इस गुणकी स्थिति मन वा हृदयकी उदारताका ज्ञापकहै और इसका
अभाव उक्त दोनों मन और हृदयकी संकोचनाका दर्शकहै। अत
एव जिस किसीको जब किसी ग्रन्थकी समालोचना करनीहो तब
उसको प्रथम यह देखलेना चाहिये कि इससे सहृदयता पानेकी
मेरी योग्यताहै वा नहीं नोचेत् जो परिणाम होगा सो स्पष्टही है।
जयदेवके 'गीतगोविन्द' काव्यकी, वा मराठी राज्यके रामजोसी
समान कविकी सुरस लावनीकी समालोचना करनेके लिये शुक्रा
चार्य ऐसे परमहंसने यदि लेखनी परिचालित की, अथवा वृद्ध
वा बुद्धिप्रमादसे मदनव्यापारशून्य मनुष्यने उक्त कार्य स्वीकृ
किया तो समालोचना कैसी उत्तम होगी इसका अनुमान सहज
में होसकताहै। उसीप्रकार धर्मप्रतिपादक वा वेदान्तविषयक ग्रन्
की समालोचना करनेका साहस यदि कोई विलासप्रिय पुरुष करे
तो वह उसे कहांतक सिद्ध करसकेगा? बिशप बटलरसंज्ञक ए
धर्माधिकारीने अंगरेजी भाषामें उक्तविषयक एक बहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ
निर्मित कियाहै। उसके विषयमें कईलोगोंने ऐसी सम्मतियां दीं कि
उन्हें देखते हमें दुःख और आश्चर्य होताहै। शेक्सपियरके विषयमें
मिल्ल साहिबकी ऐसीही सम्मतिहै। कई अंगरेज कवियों तथा इति
हासोंके विषयमें जानसनकी सम्मति, और हिन्दुओंकी विद्यादिके
विषयमें मेकालेकी सम्मतिकी योग्यता कितनी माननी चाहिये इसे
सहृदय पाठकगण भलीभांति जान सकते हैं। एलीजवेथ रानीके
कोषाध्यक्ष कोई लार्डबर्लेसंज्ञकथे। स्पेन्सरको उसके सर्वप्रसिद्ध
काव्यके निमित्त रानीने कुछ पारितोषिक दिया, उसे देख उक्त कोषा
ध्यक्षको महदाश्चर्य हुआ और उससे यह कहे विना न रहागया
कि एं यह क्या पागलपनहै, एक न कुछ गीतमात्र बनानेके लिये

तना भारी पारितोषिक ! दूसरे एक समय पर किसीको किसी
एक काव्यकी अत्यन्त प्रशंसा करते देख एक तत्त्ववेत्ताने कहा कि
अ: इसमें क्या है ? हमें यह बतलाओ कि इस काव्यके योगसे
बाजारमें धान्य सस्ता होगया है क्या ? सारांश जिस विषयमें
अपनी गतिही नहीं है उसमें पागलकी नाई प्रविष्ट होनेसे ऐसी वि-
चित्र सम्मतियां उत्पन्न होती हैं अतएव किसीभी ग्रन्थकी समा-
लोचना लिखनेके लिये लेखनी उठानेके पहिलेही समालोचक को
यह भली भांति सोच लेना उचितहै कि समालोचना तो हम
करेंहींगे पर इस विषयमें सहृदयता प्राप्त करनेकी हमारी कितनी
योग्यताहै ? यदि योग्यता न हुई तो सम्मति वैसीही निश्चित होगी
जैसी अन्धद्वारा चित्रपटकी होसकती है । यहांपर किसीको यह
भ्रम उत्पन्न होगा कि प्रचुरपाण्डित्यके योगसे चाहे कोई विषय
क्यों न हो उसकी समालोचना होसक्तीहै ? पर यह भ्रम उक्त जान्-
सन्, मिल्ल आदिके उदाहरणोंसे पूर्णतया दूर होसकताहै । तात्पर्य
निरे पाण्डित्यकी अपेक्षा इस सहृदयता गुणकी अधिकतर योग्यता
है । इसी लिये ग्रन्थकी समालोचना यदि प्रचुर पाण्डित्यबलसे भी
कीगई हो तोभी उक्त गुणका अभाव होनेके कारण वह अनादर-
णीय होजाती है ।

(१२) इस प्रकार उत्तम प्रकारकी समालोचना करनेवाले
समालोचकके आवश्यक गुणोंका यहांतक वर्णन हुआ । हम सम-
झतेहैं इसमें अन्यलोगोंका भी अन्तर्भाव होसकताहै । अब संसार
में सामान्यतः जो ग्रन्थादिकोंकी समालोचना हुआ करती है वह
कितनी योग्यताकी रहती है और किस २ प्रकारकी दृष्टिगोचर
होती है इसके विषयमें थोडासा निरूपण करना आवश्यक है ।
प्रथमतः सब लोग यह सहजहीमें समझ सकतेहैं कि लोक व्यवहार

में लोगोंकी वहुधा स्तुतिकी अपेक्षा निन्दाकी ओरही विशेष प्रवृत्ति रहतीहै । किसीने किंचित् ऊपर सिर उठाया, किसीकी कहीं कुछ प्रशंसा हुई न हुई, कि लोगोंको वह असह्य होजातीहै और तत्क्षण चारोंओर उसके निन्दक उपस्थित होजाते है । यही कारणहै कि बड़े ग्रन्थप्रणेतृगणों और विशेषतः सब कवियोंने अपने २ ग्रन्थों की भूमिकामें खलोंके दुश्चरित्रोंका वर्णन कियाहै। अस्तु; इससे यह स्पष्टतया ज्ञात होताहै कि समालोचनाके सामान्यरूपका अर्थ मूल ग्रन्थका दूषण वा उसका खण्डन है । किसीकी प्रशंसाके निमित्त किसीने किसी एक ग्रन्थकी समालोचना कीहो ऐसा वहुधा विना स्वार्थके कहीं भी दृष्टिपथमें नहीं आता। अब दूसरेका नाम रखने के लियेही वहुधा सबलोगोंकी प्रवृत्ति क्यों हुआ करती है इसका कारण किंचित् विचार करनेसे तत्क्षण विदित होजायगा कि वह स्वाभिमानहै । प्रत्येक मनुष्य यही समझताहै कि यदि संसारमें कोई चतुरहै तो वह मैंही हूं, सबको उचितहै कि वे मेराही गुण वर्णन करें, और जब वह देखताहै कि कहीं किसीकी प्रशंसा हुई तो (अल्पचेतस् होनेके कारण) उसे यही जान पडताहै कि उक्त प्रशंसा मेरीही प्रशंसामें से लीगई है । यही कारणहै कि बहुधा हरएक मनुष्य दूसरेकी निन्दाके लिये घात लगाये रहताहै । कई लोग कि जिन्हें लोग बुद्धिमान् और चतुर मानतेहैं, ऐसा समझते है कि दूसरेकी कृतिको सर्वथैव उत्तम कहकर यदि उसमें कुछ दोष न निकाला तो, अपना वडप्पनही क्या रहा ? आधुनिक विश्व विद्यालयकी परीक्षाओंमें परीक्षकगणोंका जो वर्ताव दीख पडताहै ठीक उसीका अनुकरण समालोचकगणभी करते है । विश्वविद्यालयके परीक्षक अपने हाथसे छात्रोंको पूरे नम्बर कभी देतेही नहीं। दश पांच तो वे निज गौरवके निमित्त एक ओर निकालकर रख

तेहैं । बहुधा समालोचकगण ग्रन्थरचनामें असमर्थ होने पर भी सकी समालोचना करते समय गुणोंका कुछ उल्लेखकर अन्तमें छ न कुछ तो सच्चे झूठे दोष निकालकर स्तुति और निन्दाको मानही कर डालते हैं । यह व्यवहार उक्त व्यवहारकी अपेक्षा हुत अच्छाहै । पर इसीके साथ यहभी स्पष्टहीहै कि इसके योग समालोचककी सत्यनिष्ठा कलङ्कित एवं दूषित होजातीहै । अ- र कईलोग ऐसे रहतेहैं कि जिन्हें गुण और दोप दोनोंभी दिखाने ी पड़तेहैं, पर दोषोंपर पाण्डित्य करना उन्हें जितना प्रिय लगता उतनाहीं गुणोंका निवरण करना अप्रिय लगताहै । इसीलिये हले कुछ थोड़ा बहुत गुणोंका विवरणकर अन्तमें दोषोंका पूर्ण- रूपसे उद्घाटन करतेहैं । इसमें संदेह नहीं कि द्वेषबुद्धि वा मात्सरी त्रभावके अतिरिक्त अन्यद्वारा यह घटना नहीं होसकती । किसी केसीके स्वभावमें पक्षपातकी इतनी प्रबलता रहतीहै और प्रकृति सी हठीली होतीहै कि गुण तो गुणही नहीं और दोष तो दोष ी इसके व्यतिरिक्त उसे कुछ दीखही नहीं पडता । स्वकीय मता- नुसार प्रिय ग्रन्थोंमें उसे सब गुणही गुण दीख पडतेहैं और दोष का लेशमात्र नहीं दृष्टिगोचर होता, परन्तु उक्त प्रकरणके विपरीत प्रसंगमें सभी दोषमय दीख पडताहै । गुणका लेशभी सहन नहीं होसकता । इसके कहनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि ऐसे समा- लोचकोंमें दुराग्रह सदा जागृतही रहताहै, कारण किसी वस्तुका केवल गुणमय वा केवल दोषमय होना सृष्टि नियमकेही विरुद्धहै । यदि ऐसाहीहै तो यह प्रकटहीहै कि उक्त समालोचकगणोंको सत्य का उपमर्दनकर गुणोंको दोषों और दोषोंको गुणोंके रूप देनेके लिये बहुत कुछ यत्न करना पड़ताहै । अस्तु; इसीप्रकार बहुधा ग्रन्थोंकी समालोचना अनेक प्रकारकी दीख पड़ती है ।

(१३) ऊपर जिन विषयोंका वर्णन होचुकाहै वे अहंकारादि दुष्ट मनोवृत्तियोंके फल होनेके कारण थोड़े बहुत सब दूषणीयहैं। अब सच्चे समालोचकोंके यथार्थ स्वरूपका यहां समास वर्णन करते हैं। यह तो ऊपर कही चुकेहैं कि जिस ग्रन्थकी समालोचना करनी हो उसका पूर्ण ज्ञान और उससे सहृदयता ये दोनों गुण समालोचकके लिये अत्यन्त आवश्यकहैं। पर इनके सिवा जो अन्य गुण कहेहैं उनकी तो समालोचकों को अधिकतर आवश्यकताहै क्योंकि उनके योगसे समालोचनाको सच्ची योग्यता और यथार्थ शोभा प्राप्त होतीहै और वह जगत्में सबको मान्य होतीहै। बहुत तो क्या पर स्वयं ग्रन्थकारही यदि सत्यप्रिय विद्वान् रहा तो वहभी उसे देखकर शिर हिलाये विना न रहेगा। यह समालोचना ऐसी रहनी चाहिये कि इसमें यह स्पष्ट दीखपड़े कि वह निष्पक्षपातपूर्वक कीगई है और इसमें सत्यनिरूपणके व्यतिरिक्त समालोचकका अपर कोई उद्देश नहीं है। गुणदोषोंको दिखानाही समालोचकोंका कर्तव्यहै अतएव उन्हें समुचितहै कि वे शुद्धान्तःकरणसे दोनोंको प्रकाशित करें और उनका उल्लेख करनेमें यत्किंचित्भी अयुक्ति न करें। दोषप्रकटित करते समय जहांतक होसके ऐसा लिखा जाय कि यह अनुमान न होने पावे कि मूल ग्रन्थप्रणेताके दोषों को प्रकाशित करना यही समालोचकका प्रधान अभिप्राय था उसी प्रकार गुणोंका वर्णन करती वारभी यदि वह उसका मित्रहो तो उसे उसकी व्यर्थ प्रशंसा करना अनुचितहै। साराश जो दोषहों उनका निर्भयता एवं स्पष्टतापूर्वक कथनहो और वैसेही जो गुण हों उनके लिये ग्रन्थ रचयिताकी उचित प्रशंसा कीजाय। जिस प्रकार सत्यनिष्ठ न्यायाधिकारी शत्रु मित्र भावको बिलकुल भूलकर केवल उदासीनता पूर्वक न्याय करताहै, वा सच्चा वणिक्पुत्र

चे मापसे अपने ग्राहकोंको सच्चा तौल देताहै, सच्चा एवं उत्तम चित्रकार मूलाकृतिको जैसे ज्यों के त्यों चित्रपटपर उतार देताहै, उसी प्रकारकी समालोचना भी होनी चाहिये।

(१४) यहां तक वर्तमान विषयकी बहुत कुछ विवेचना हुई। अब यहांपर आजकलके लोगोंमें वर्तमान विषयके सम्बन्धसे जो कईएक प्रकारके विलक्षण विचार दीख पडतेहैं, उनके विषयमें कुछ थोड़ासा वर्णन उचित जान पड़ताहै। उन विचारोंमेंसे पहला बड़ा विचार यही दीख पड़ताहै कि जो दूसरे लोगोंके दूषण प्रकाशित करताहै वह अहंकार और द्वेषबुद्धिके वश होकरही उक्त कर्म करता है, अतएव वह बड़ा दम्भी एवं दुष्ट मनुष्यहै। यह निश्चित होने का कारण क्याहै सो पिछले लेखसे हमारे पाठकोंको ज्ञात होही चुका होगा। परन्तु यह विचार सदैव सत्यही होताहै ऐसा कुछ नियम नहीं है। अत्यन्त निकट सम्बन्ध और समस्वभाववाले मनुष्योंमें भी बहुधा मतान्तर दीख पड़ताहै और यदि वह दीख पड़ताहै तो कुछ विशेष आश्चर्यकी बात नहीं है।

यहा पर इतनाही कहना अलम् है कि उक्त दोष विवेचन उक्त हेतुओंसे जैसे होसकताहै वैसेही सत्यनिष्ठासे भी वह होसकताहै। इसलिये उक्त प्रकारके लेखकको केवल दो मनोवृत्तियों से अभियुक्त करना यह तो निरी जबरदस्तीहै। जिस समालोचकने अहंकृति वा दुष्टबुद्धि से दूसरेकी विना कारण निन्दा की उसकी उसी प्रकार निन्दा करनेके लिये उस निन्दित पुरुषको वा उसके सहायकों को क्या किसीने मना कियाहै? जिसको यह जान पडता होगा कि हम उक्त निन्दाके पात्र नहीं हैं, उसे उक्त दोषारोपणको दूर करनेकेलिये यत्न न कर स्वस्थ क्यों बैठना चाहिये? उक्त दूषणको दूर करनेकेलिये यदि हमने शिथिलता की तो हम उक्त

दूषणके पात्र हैं ऐसा लोग समझलेंगे यह उसे जान नहीं पया ? साराश यह तो स्पष्टही है कि द्वेषमूलक निन्दासे भी चित् अनर्थ होनेकी पूरी सम्भावना नहींहै। अस्तु; दूसरा विचा यहहै कि अपनेसे जो बड़ेहैं उनके दोष प्रदर्शित करनेका अधिकार हमें नहीं है। यह विचार हमारे पुराने श्रद्धालु एवं भोले लोगोंको यदि होता तो हमें उसका कोई बड़ाभारी आश्चर्य होता क्योंकि गुरुजनोंके विषयमें हमलोगोंकी पूज्यबुद्धि कैसी रहै है सो सबलोगों को विदितही है। पर पुरानी पागलपनकी कथाओंके दासत्वसे नवीन रोशनीने हमें मुक्त कियाहै अतएव जो अपनेको परम धन्य मानते हैं, 'आजतक भारतवर्षमें इतने राजागण होगये पर वर्तमान दयालु सरकारके समान प्रजाको सिक्क स्वाधीनता किसीने भी न दी' ऐसा जो रातदिन गीत गाया करतेहैं, अपने सम्मानित पूर्वजोंकी मनमानी निन्दा करनेमें जो आगा पीछा कदापि नहीं देखते; हमारे प्रभुका धर्म शान्तिका सागरहै इसी कारण हमें आज्ञाहै कि उसे बाहुबलसे नहीं वरंच लोगोंके मनोंको आकर्षितकर फैलावें ऐसा जो चारों ओर ढिंढोरा पीटते फिरतेहैं, वे ही मेकाले, मिल्ल कैसे ग्रन्थकारों की निन्दा प रोमाञ्चित हो कानोंमें अंगुलिया डालें, डाक्टर विलसन् समा किसी एक व्यक्तिका किसी एक सम्बन्धसे नाम रखने को केवल छठा महापातकही मानें, अपनी राज राजेश्वरी महारानीके चरणों पर उसकी समस्त प्रजाको उचितहै कि वह अपनी धर्मनिष्ठा सत्यप्रीति और ईश्वरभक्ति सदसद्विवेचना शक्ति आदिको निछावर करडाले, ऐसा वे प्रकटमें उपदेश करें यह कैसे आश्चर्यकी बात है ! परन्तु उक्त अधिकार मनुष्यमात्रको है वा नहीं इसका निर्णय जो क्षणभर विचारपूर्वक करेगा उसकी समझमें सहजहीमें

जायगा। केवल लडकपनकी बुद्धिको छोड मनुष्यों के गुण पोंके विषयमें यत्किञ्चित्भी विचार करनेकी शक्ति जिसकी द्धिको हैं, उसे संसारका थोडासाही अवलोकन करनेसे ज्ञात जायगा कि एक सर्वगुणसम्पन्न मनुष्यका मिलना कठिनहै, उसी कार जिसमें अणुमात्रभी दोष न हो ऐसे मनुष्यका मिलनाभी संभवहै। दोषोंका सर्वथैव अभाव तो एक परमेश्वरहीमें पाया ाताहै। मनुष्यकेलिये, उसकी स्पृहा करना, वा उसकी स्थिति ो अपनेमें मानना, इसके समान भयंकर मूर्खता और नहीं है। दि ऐसाही है वो कोई कैसाही सम्मानित क्यों न हो, उसमें कुछ कुछ दोष दीखही पडेंगे, वा कोई उन्हें प्रकाशित करे तो उसमें ाश्चर्यही क्याहै पर कोई कदाचित् कहेंगे कि बडोंमें दोष रहे तो ी छोटोंको उन्हें प्रकाशित न करना चाहिये। यह कथन तो चन्द्र ो कलङ्की कहना, नहीं, सूर्यके बिम्बोंपरके काले दाग देखना हीं, इत्यादिके समान कैसा अप्रयुक्त ज्ञात होताहै। क्या उक्त दोनों योतियोंका प्रकाश उनके दागोंसे कम होताहै ? वा उन दागोंको चेत्र जो ज्योतिषीलोग बनातेहैं वे उसके द्वारा तेजकी निन्दा क- ना चाहतेहैं ? यह कुछ नहीं उनका उद्देश्य इतनाही रहताहै कि उनके यथावत् स्वरूपको प्रकटकर विद्याकी उन्नति करें। उक्त कथनानुसार यह महद्दोष विवरण केवल निर्दोष तो हैही है पर इसके अतिरिक्त यह अत्यन्त प्रयोजनीयभी है। दूसरे यह कि उसके योगसे मनुष्यके वृथा दम्भका उत्कृष्ट खण्डन होजाताहै, और उसी कारण परमेश्वरकी पूर्णताकी ओर उत्तमतया उसका ध्यान ल- गताहै, कारण यह है कि उसे सुदृढ़ निश्चय होजाताहै कि मैं जिन्हें श्रेष्ठ मानताहू उनमेंभी जब अपूर्णता दृष्टिगोचर होती है तब शेष यःकश्चित् क्षुद्र मनुष्योंको अपना वृथा दम्भ सहजहीमें समूल त्याग

देना चाहिये क्योंकि उनको तत्क्षण यह निश्चय होजाता है
निर्दोषी एवं सकल गुणैश्वर्यसम्पन्न सृष्टिकर्ता परमेश्वरके
अन्य कोई नहींहै । और तीसरा लाभ यहहै कि बड़ों के
जो बड़ा भारी अनर्थ होताहै वह बन्द होजाताहै । किसी
अंगरेज ग्रन्थरचयिताने कहाहै कि "बड़े मनुष्योंके दोषोंके
भीषण एवं भयंकर अन्य कुछ नहींहै "। यह तो प्रकटही है
मनुष्यका स्वभाव अनुकरणशील होनेके कारण बड़ोंके
सहस्रावधि लोग अनुधावन करने लगतेहैं और बहुतेरे तो स
लगते हैं कि उन दुर्गुणोंके अनुकरणमें भी कुछ विलक्षण
है पर जब उन दुर्गुणोंकाही एकबार पूर्णतया खण्डन होगया
उन लोगोंको पुनः उसी प्रकार उसका बोध नहीं रहता । अस्तु
इसके सिवाय ऊपर हम यह कही चुके हैं कि कोई कैसाही
क्यों न हो पर उसकेभी दोषोंका प्रकाशित करना अनु
है, वरन उससे कई लाभहै । तीसरा विचार यहहै कि उक्त
विष्करण द्वारा उनका उपमर्दन होताहै यह समझभी निरी
ही है । ऊपर जो कहचुकेहैं कि मनुष्य यदि अभिमान करे कि
सबगुण संपन्नहूं तो यह उसकी प्रचण्ड मूर्खताहै । यह कथन यदि
सत्यहै तो उसे अपने दोषोंके वर्णनका सहन न होनाभी उक्त प्र
कारान्तरगतही है । जिसकी इच्छाहो कि लोग हमारे गुणोंकी
प्रशंसा करें, वही अपने दोषोंकी निन्दा श्रवण करनेके लिये प्रस्तुत
क्यों न रहे ? क्या उसकी यही इच्छा रहा करती है कि लोग मेरे
गुणमात्रको प्रकाशितकर दोषोंको आच्छादित कियाकरें ? पर
जिसने जनप्रवृत्ति का यत्किंचित्भी अवलोकन किया होगा वह
ऐसी विवेकशून्य आशा करेगाही नहीं । इसके सिवा जैसे हम
अन्योंके दोष प्रकाशित करनेके लिये तृणमात्रभी संकोच नहीं

ते वैसेही अन्योंकोभी हमारे विषयमें क्यों न करना चाहिये ? कोसबके गुण दोषोंकी चर्चा करनेका पूर्ण अधिकार है, भेद नाही है कि कई बातोंको स्पष्टतापूर्वक कहदेने से निर्वाह होताहै और कई बातोंमें निर्वाह नहीं होता। क्या यह भले बुरे चुनावट यथार्थमें जगके सत्य आचरणके लिये अत्यन्त आवश्यक नहीं है ? निःसंशय यह अत्यन्त आवश्यक है, यदि लिखा य तो उसकी हितैषिताके विषयमें एक स्वतन्त्र लेख लिखा जा कताहै, और यही कारण है कि ज्ञानी पुरुष इस जनचर्चाका कभी रा नहीं मानते, जो गुण उनमें नहीं हैं उनकी व्यर्थ प्रशंसा होनेकी पेक्षा उनमें जो दोष है उनकेलिये निन्दित होना वे एकवार स्वीकृत रलेंगे। उन्हें झूठी प्रशंसासे बहुत घृणा रहतीहै। तो फिर अपने थार्थ दूषणोंके लिये वे क्रुद्ध क्यों होनेलगे ? अस्तु; उक्त कारणोंसे हजही ध्यानमें आसकताहै कि ज्ञानी पुरुषोंके यथार्थ दोष प्रकाशित करनेसे वे कदापि क्रुद्ध न होंगे और दूसरे उनके प्रकाशित रनेमें किसीका उपमर्दन होता है यह भी निरी झूठी समझ है।

परन्तु ग्रन्थप्रणेतृगणोंके लिये तो उक्त कथन विशेषकर आवश्यक है। यों तो व्यवहारमें नातेदार स्नेही तथा अन्यसम्बन्धी आदिकोंकी मुरव्वतके कारण किसी व्यक्ति विशेषके विषयमें जो यथार्थ एवं उचित जान पड़ताहै उसेभी स्पष्टतापूर्वक कहते नहीं बनता। उसी प्रकार सरकारी नातेसेभी मनुष्य बद्ध होजाताहै। किसीका विचार (ख्याल) किसीके विषयमें कितनाही बुरा क्यों न हो, क्रोध, मत्सर, तिरस्कारादिसे मनुष्य मनही मनमें कितनाही तड़पता क्यों न हो, तौभी सरकारी सम्बन्धके कारण ऊपरसे उभय पक्षमें हांसे हां मिला ठकुर सोहाती करनाही पड़तीहै। ऐसा ही आईनकाभी बन्धनहै। प्रत्यक्ष प्रचण्ड शत्रुभी हों, वे ऐसे कि

यदि एकान्तमें भेंट होजाय तो उभय शत्रु, एक दूसरेकी ह
वैठनेकोभी न चूकें तौभी उन्हें समाजमें निज २ सम्मतिया
पूर्वक कहते नहीं बनतीं क्योंकि उन्हें मानहानिकी नालिशका
बना रहताहै ! परन्तु कोई मनुष्य ग्रन्थप्रणयन द्वारा यदि स
सम्मुख आया तो उसके विषयमें उक्त सब नियम परिवर्तित हो
है । उस विचारेको आडके लिये वहां कुछ नहीं मिलता ।
ग्रन्थकार कैसाही श्रीमान्‌हो, कैसाही विद्वान्‌हो, कैसाही मानी है
पर जो उसपर शस्त्र उठावेगा उसे उसके उक्त विभवसे तिलमात्र
भय माननेकी आशङ्का नहीं है । उसके जो २ दोष उसकी बुद्धि
आवें उन्हें निर्भयहो लोगोंपर प्रकाशितकर, चाहे उस प्रकार
उसकी दुर्दशा करनेके लिये वह पूर्णतया अधिकृत है । अब
अवश्यमेव विचारणीयहै कि यदि ऐसाही है तो विना कारण कि
को दूषित करना, और व्यर्थ उसपर दोषारोपणकर लोगोंमें
की योग्यता कम करनेके लिये यत्नका करना नीचता एवं अ
मताहै । यह सत्य है कि ऐसा करनेवाले लोग बहुत दीख प
है, पर इससे उक्त अधिकारका सबको प्राप्त रहना बुराहै यह सि
द्धान्त कदापि नहीं होसकता । सबकी भलाई और बुराई अपनी
भली बुरी कृति पर निर्भर है । वही बात उक्त अधिकारकी भी है
जो लोग सत्यके प्रेमी और सज्जन होंगे उनके द्वारा उसका उत्त
ही प्रयोग होगा, और जो हठीले एवं दुष्ट होंगे उनके द्वारा बुरा
होगी । अस्तु; अब यदि कोई यह पूछे कि यह अधिकार सबक
कैसे प्राप्त हुआ तो उसका संक्षेपमें उत्तर यही है कि जैसे बाजारकी
चीजों को भला बुरा कहनेका अधिकार हर किसीको है वैसेही
ग्रन्थके गुण दोष विवेचनका अधिकार पाठकमात्रको है । इससे
कतिपय पाठकों को उक्त समता हास्यजनक जान पडेगी, परन्तु

यथार्थमे ग्रन्थकर्ताकी और दुकानदारकी स्थिति बिलकुल एकसी है। अब इधर जबसे मुद्रणालय चल निकले हैं, तबसे उक्त सादृश्य अधिकतर दृढ होगयाहै। पर बहुत प्राचीनकालसे यदि देखा जाय तो समस्त संसार यही एक बाजार है और उसी बाजारमें निजग्रन्थरूप वस्तुको लेकर कीर्तिरूप द्रव्य प्राप्त करनेकी आशासे ही सब ग्रन्थरचयितागण आते हैं। फिर यदि ऐसाहीहै तो बाजारमें जो दशा दुकानदारको प्राप्त होतीहै वही यदि ग्रन्थकर्ताओं को प्राप्त हुई तो उन्हें खेद क्यों मानना चाहिये? सहस्रावधि ग्राहकगण और सहस्रावधि उनकी उक्तियां! उक्त दुकानदारको मूकभाव धारणकर उन सबलोगोंकी बातें जैसे सहना पडती हैं, वैसे ही लोगों द्वारा निज ग्रन्थकी नाना विधि आलोचनायें और सम्मतियां ग्रन्थकारको मूकभावपूर्वक श्रवण क्यों न कर लेनी चाहियें? अथवा रङ्गभूमिस्थ नाटक-पात्रके अभिनयकी, वा किसी सभामें किसी वक्ता महाशयने वक्तृतादी तो उसके व्याख्यानकी परीक्षा करनेका अधिकार सब दर्शक तथा श्रोतागणोंको नहीं है क्या, और उक्त उभय व्यक्तिके निज २ कलाओंमें अत्यन्त निपुण होनेपरभी सबलोगोंने यदि थपोडी पीटकर उनका उपहास किया, तो उससे हम अपमानित हुए ऐसा जानकर उक्त उभय व्यक्तियोंने लोगोंपर यदि मानहानिकी नालिशकी तो वह उन्हें कितनी फवेगी? न्यायाधिकारी उन्हें क्या समझावेगा। उक्त तीन दृष्टान्तों द्वारा हमारे पाठकोंको तत्क्षण विदित होजायगा कि किसीकेभी ग्रन्थकी मनमानी आलोचना करनेका हर कोई पूर्णतया अधिकृत है। मानहानिका एकट हमने अद्यावधि तो पढा नहीं है और आगे पढ़ेंगे या नहीं इसमेंभी संदेह है पर हमें इतना स्पष्टतया ज्ञात होताहै कि यदि मेकाले, जान्सन आदि बडे २ सज्जन ग्रन्थप्रणेतृगणोंने निज २

है, इत्यादि बातें सब विचारशील पुरुषोंको पूर्णतया विदित होंगे
अस्तु, यहभी एक बड़ा भारी लाभ मानना चाहिये कि ...
पाती और सहृदय ग्रन्थपरीक्षकोंके कारण बुद्धिमान् मनुष्यों
साधारणलोगोंके समान मूर्ख एवं दुष्ट धनी लोगोंकी खुशामद क
को वा राजकीय उच्चपदाभिषिक्त जनोंके संमुख हांजी हांजी क
लघुताका बोझ उठानेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती वरन उनक
बुद्धिमत्ताके अत्यन्त अनुकूल, उचित और शोभादायक जो नि
स्पृहता और स्वतन्त्रता है वह उन्हें स्वेच्छानुकूल प्राप्त होती है *।

* जब से मुद्रणालयोंका प्रचार हुआ तब से यह उत्तम व्यवस्था ग्रन्थकारों
अनुकूल हुई। इंग्लैंडमें एतद्द्वारा सम्पत्तिमान् हो पुन जीवनके शेष दिन स्व
न्त्रतापूर्वक व्यतीत करनेवाला पहला कवि पोप हुआ है। होमरके महाकाव्य
अनुवाद द्वारा लगभग पचास हज़ारसे अधिक मुद्रा उसे प्राप्त हुईं और उन्हीं
कारण घर द्वार बाग बगीचे इत्यादि बड़े समारोह के साथ वह रहनेलगा। उस
कहा है –

" And thanks to Homer since I live and thrive
Indebted to no prince or peer alive "

ऐसे ही सर वाल्टर स्काटको, व्यवहारमें जो १५ लाखका घाटा आयाथा, इस
उसने निज उपन्यासादिकी आयद्वारा एक एक कौड़ी तक देडाला। हमारी मह
रानीके सन्निकटवर्ती राजकवि टेनीसनकी प्राप्ति भी ऐसी ही थी। वर्ष दो वर्ष में
एक आधा काव्य रचा कि उनके तीन चार लाख होगये।

अभिमान।

अभिमानधनस्य गत्वरैरसुभिः स्थानुयशश्चिचीषतः।
अचिरांशुविलासचञ्चला ननु लक्ष्मीः फलमानुषङ्गिकम् ॥×

किरातार्जुनीय।

यह विषय मानसशास्त्रका है। मानसशास्त्र उसे कहते हैं जिसमें मनुष्यके मन और हृदयकी भिन्न २ वृत्तियोंका वर्णन कियाजाता है। शारीरिकमें जिस प्रकारसे मानवशरीरके घटक अवयव, रक्त, मांस और अस्थि आदिकी विवेचना रहती है उसी प्रकारसे उक्त शास्त्रमें मानसिक धर्मोंकी आलोचना कीजाती है। हमारे देशमें इसके पूर्व इस शास्त्रके ग्रन्थ स्यातही प्रणीत हुए हों पर अंगरेजी भाषामें अपर शास्त्रों की नाई इस शास्त्रकेभी सर्वजनमान्य अनेक ग्रन्थ पाये जाते हैं। सारांश जिसे यह शास्त्र अधीत करनेकी इच्छा हो उसके लिये संप्रति अंगरेजी भाषाके व्यतिरेक अन्य साधन नहीं है।

(२) इस लेखमें उक्त मनोवृत्ति का विवरण शास्त्ररीत्यनुसार नहीं किया जायगा। अर्थात् उसके स्वरूपविषयक सूक्ष्मविचार, उसकी उत्पत्ति का कारण, उसके प्रतिकारके उपाय आदिके विषयमें कुछ नहीं लिखाजायगा। तो यहां केवल व्यवहार प्रथानुसार उसकी आलोचना कीजायगी। अर्थात् उसका मनुष्यमें रहना योग्यहै वा अयोग्यहै, उससे लाभ हानि क्या है? आदिके विषयमें सर्व साधारणमें जिस प्रकारसे चर्चा हुआ करती है वैसेही यहां इस विषयपर कुछ विचार प्रदर्शित किये जायँगे।

× नश्वर प्राण पणासे चिरकालजों रहनेवाले यशके प्राप्तिकी इच्छा करनेवाला मानी मनुष्य संपत्तिको तृणप्राय मानताहै क्योंकि एक तो यह तडित्के समान चञ्चल है और इसके सिवा वह उसकी वीरता का केवल आनुषङ्गिक फलही है।

(३) अब आदिमें इस विषयपर सर्व साधारणकी जो सम्मति पाई जाती हैं उनका संक्षेपतः उल्लेख होना चाहिये । हम यह पूर्ण तया जानते हैं कि इस लेखके विषयका उक्त नाम देखतेही हमारे बहुतेरे पाठक यह विचारेंगे कि इस विषयपर लिखनेयोग्य नई बात कौनसी है ? यह तो आबाल वृद्ध सभी जानते है कि अभिमान बुरा होनेके कारण सर्वथा त्याज्य है; तो फिर उसके विषयमें लम्बी चौडी विवेचनाकर और अधिक क्या सिद्ध होगा ? जिस मनुष्य को सबलोग अभिमानी समझते है उसका वे तिरस्कार करते और उस दुर्गुणके कारण उसके अपर गुणभी बहुधा लुप्तसे हो जाते हैं । संसारमें इस बातके प्रमाण ठौर २ पर पाये जाते हैं; और यही कारणहै कि वयोवृद्ध अनुभवीलोग युवा लोगोंको सदा यही उपदेशप्रदान किया करतेहै कि वे सबसे नम्रतापूर्वक बर्ताव किया करें सो सबको विदितही है । प्राचीन तत्त्ववेत्ता लोगोंने मनुष्यके जो छः रिपु बताये हैं उन्हींमेंसे एक उक्त अभिमानभी है । इन सब बातों को जान बूझकर अब इस मनोविकार की युक्तायुक्तताके विषयमें और क्या विचार कियाजायगा । इसकी अयुक्तता तो 'विकार' शब्दमें भलीभांति झलकती है । एतावता वह मनुष्यके अहित का कारणहै सो स्पष्टही है । अब इससे अधिक भलाई बुराई की मीमांसा होनेको और क्या शेषहै । सारांश यह दूसरा प्रतिपादन-भी उक्त कैसाही निरर्थक हुआ । अस्तु; इस प्रकारसे इस विषयपर सबलोग पूर्वहींसे निर्णय करचुके हैं और अब अधिक विचारने योग्य कुछहैही नहीं, प्रायः सबलोग ऐसाही विचारेंगे ।

(४) परन्तु उक्त निर्णय बहुतांशमें सर्वथा सत्यही नहीं है, इस विषयपर सविस्तर उपपादन करनेके लिये अभी बहुत कुछ बाकीहै, सो सब हमारे विज्ञ एवं विवेकी पाठकों को निम्नलिखित प्रबन्धद्वारा ज्ञात होजायगा । इस आगेके प्रतिपादन में आजपर्यन्त के परंपरागत कतिपय प्राचीन मत और सर्व साधारणकी सम्मति

उक्त शङ्काका समाधान करना कोई कठिन बात नहीं है । क्योंकि ऊपर जो निषेध कहागयाहै वह तत्तद्वृत्ति की अधिकता का कहागयाहै स्वयं उस वृत्ति का ही निषेध नहीं कियागयाहै, और यह यदि ऐसा न होता तो विवाह करना पाप * कर्म माना गया होता; 'काम' तीसरा पुरुषार्थ न मानागया होता, और कामकी हिन्दु ग्रीक आदि पुरानी जातियोंमें पूजा न हुई होती । इसके सिवा महात्मागणों की कथाओंमें उनके क्रोधावेश प्रभृतिका प्रशंसापूर्वक वर्णन उपलब्ध न होता । इसके सिवा संसारके व्यवहारमें सामान्यतः उक्त काम क्रोधादि वृत्तियोंका योग्य आकलन हुआहो ऐसे बहुत थोड़े उदाहरण प्राप्त होते हैं; उनकी दुराधर्षता तथा अनर्थ हेतुक होनेके अनेक उदाहरण मिलते हैं । उनके अनर्थक होने के प्रचुर उदाहरण पायेजाने के कारणही लोगोंने उनपर उक्त कटाक्ष कर उक्त प्रकारसे उनका एकदेशीय वर्णन कियाहै । तनिक विचार करनेसे जाना जासकताहै कि उक्त मनोविकार अनर्थकारक कदापि नहीं है । परम चतुर परमेश्वरने मनुष्योंमें उनकी स्थिति योंही नहीं की है । मनुष्यों के लिये उनका अस्तित्व अत्यन्त प्रयोजनीयहै । पर बात इतनीही है कि, मनुष्य सदा उन्हें अपने आधीन बनाये रक्खा करे, और ऐसा कभी न होनेपावे कि वही उनके आधीन होजाय । जैसे घोड़ेपर बैठना । घोड़ा अपना सामर्थ्य और द्रुतगति को बिलकुल मनुष्यके आधीन करदेताहै, और सवारी करनेवाला यदि चतुर एवं दक्ष हुआ तो उक्त अधिकारको बहुत उत्तमतया काममें लाताहै सो सब पर विदितहीहै । पर सवारी करनेवाला यदि अनभिज्ञ हुआ तो घोड़ेके उक्त दोनों गुण उसके नाशका कारण होंगे इसमें अणुमात्र भी संदेह नहीं है ।

---

* यह प्रथा रोमन क्याथलिक पन्थानुयायी लोगों में अभी तों प्रचलित है । उनके धर्माधिकारी को विवाह कदापि न करना चाहिये ॥

(५) ऊपर कामादि छः मनोविकारोंके विषयमें साधारणतया जो प्रतिपादन कियागया है वही वर्तमान लेख के विषयस्वरूप अभिमानके विषयमें भी चरितार्थ होताहै । अर्थात् वह स्वयं अनर्थ का कारण नहींहै किन्तु उसकी भलाई बुराई मनुष्यकी भलाई बुराई परही सर्वथा निर्भर रहती है । तौ अब इससे यह सिद्ध हुआ कि उक्त मनोविकार दो प्रकारकेहै । एक तो वे जो विज्ञ एवं चतुरलोगों में पाये जाते है और दूसरे वे जो अबोध एवं मूर्खलोगोंमें दृष्टिगत होतेहै । आगे इनदोनों विषयोंकी यथाक्रम विवेचना कीजाती है ।

(६) प्रथमतः मूर्खलोगों की वात । पहले इन्हीका वर्णन करनेका कारण-' दुर्जनं प्रथमं वन्दे ' सर्व प्रसिद्धहीहै, और इसके सिवा दूसरी वात यह भीहै कि जगन्नियन्ता की इच्छानुसार संसारमें इन्हीं की संख्या अधिकहै । तौ पहले वहुपक्षको समादृत करनाही हमें उचित बोध होताहै । इतने बडे जनसमूहको गर्व एकही प्रकारसे बाधा नहीं करता किन्तु भिन्न २ द्वारोंसे प्रविष्ट हो वह अन्तःकरणरूप गढको अपने आधीन करलेताहै । किसीको अपने वलका अभिमान रहताहै । वह यही समझताहै कि संसार में यदि कोई वलवान् है तो वह मैही हू, लोगों को मुझसे वहुत सावधानीपूर्वक वर्त्ताव करना चाहिये, मुझे किसी की कटु उक्ति सहन न होगी, पर मै जिसे जो चाहूं सो कहू; ऐसा वहुतेरे समझा करते है । यह दोप विशेषरूपसे हमारे मल्लविद्याप्रिय लोगों में अधिक पायाजाताहै । कोई एक दो महीने अखाडेमें योंही क्यों न जाय और वहा जाकर कुछ मल्ल प्राप्तकरे वा न भी करे पर तौभी उसके वात चीत करने और चलनेआदिमें एक विशेष प्रकारकी ऐंठ दिखाई देनेलगतीहै ! पर मानलो कि वहा जाकर कोई महान् वलिष्ठ होही गया, और लोहेकी वडी २ सब्बलें योंही हाथसे नवादेनेलगा, वा पानी भरे हुए वडे २ हण्डे दांतोंसे उठानेलगा ; तौभी उसके उक्त साहसकार्य प्रशंसाके पात्र नहीं होसकते । क्योंकि

जरहि पतङ्ग विमोह वश, भार वहहिं खर वृन्द ।
ते नहिं शूर कहाअहीं, समुझ देखु मतिमन्द ॥

अस्तु; उक्त लेखका यह अभिप्राय कदापि नहींहै कि अखाडे जा मल्लविद्याके सेवनद्वारा शरीरसामर्थ्य सम्पादित करना बुरा किन्तु वर्तमान समयमें तो वह अनेक कारणोंसे अभीष्टहीहै; हमा कथनका तात्पर्य यहीहै कि जो सम्पादित कियागयाहै उसका सदा गर्व मानना मूर्खता का चिह्नहै । दूसरा प्रकार सम्पत्तिकाहै । उक्त कारण की अपेक्षा अभिमानका कहीं बढके कारण होती मनुष्य कैसाही बलवान् क्यों न हो, पर उसके पास कुछ माय और उसकी लोगोंमें मान मान्यता न होनेके कारण अकेले बल को कोई नहीं पूछता । पर एक सम्पत्ति हुई तो समस्त जनसमु पर उसका आतङ्कसा जमजाताहै । थोडा बहुत अधिकार औ लक्ष्मीजीकी सहायता मिलजाने पर बापुरे गरीबोंका नाशकरन तो उक्त पुरुषोंके लिये एक सहज बात होजाती है । अतः बहुते लोग उनसे नितान्त नम्र रहाकरते हैं, और अपर आशाबद्धलो उनके निकट ठकुरसोहातीके लिये निरन्तर उद्यतही रहाकरते हैं आप बडे उदारहैं, आप महान् गुणवान्‌हैं, आपके दिये इतने लोगों की जीविका होती है, आदि सच्ची झूठी प्रशंसाके सिवा उनके कर्णकुहरमें और कोई ध्वनिही नहीं पहुँचपाती; हमारे पीछे हमारे कृत्रिम कार्योंको देख लोग हमारे विषयमें क्या कहते सुनतेहोंगे आदिका विचार जिन्हें स्वप्नमें भी नहीं होता, ऐसे लक्ष्मीके ला डिले सपूत यदि अभिमानके आगर बनजांय तो आश्चर्यही क्या है ? इन लोगोंमेंसे जो लोग निजके परिश्रम द्वारा ऐश्वर्यवान् एवम् विभवशाली हुएहैं उन्हें उक्त अभिमान कुछ अंशमें फबताभीहै। पर जो लोग भूतपूर्व पुरुषोपार्जित सम्पत्तिका पा अभिमान करते हैं उन्हें तो वह बिलकुलही शोभा नहीं देता। क्योंकि भले कुलमें जन्म पाना तो दैवाधीन बातहै, अतः उसका अभिमान मानना व्यर्थ

है। ऐसे कुलीन पुरुषोंका अपनी कुलीनताके लिये गर्व मानना
ावकथासंग्रहके खचरकी नाई हास्योत्पादक है। या यदि ऐसा
मानाजाय कि उनके पूर्वजोंकी समुज्ज्वल कीर्तिही उनकी दु-
ीर्तिका विशेषरूपसे कारण होतीहै, तो स्यात अनुचित साहस
कहावेगा। क्योंकि स्वच्छ शुभ्र वस्त्रपर जैसे कोई छोटासा दाग
ो तुरन्तही दिखाई देनेलगता है, वैसेही अभिमानका विषय जो
लीनता वही इन वंशजोंकी अपकीर्तिप्रदर्शक होती है। इन लोगों
ा वस्त्रालंकारविषयक गर्वभी ऐसाही होताहै। इस अभिमान की
पर्थता सोलन नामके एक प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ताने एक स्थानपर जैसी
त्तमतया प्रदर्शित की है वैसी बहुतही थोडे लोगोंने प्रदर्शित की
ोगी। किसी एक राजाने अपना अतुलविभव उसे बडे अभिमान
े साथ दिखलाया जिसे देख उसने एकही दो शब्दमें उसके
अभिमानका पूर्णरूपसे खण्डन करदिया! उसने कहा "राजा
ेरी अपेक्षा मोर मुझे अधिक विभवशाली प्रतीत होताहै, और
उसका अभिमानी होनाभी अधिकतर यथार्थ है!" अस्तु; तीसरा
प्रकार रूपलावण्य का है। एतद्विषयक अभिमान पुरुषों को बिल-
कुल शोभाप्रद नहीं होता; वह सर्वथा स्त्रियोंका ही विषय है। पति
की प्रीति अपने पर दृढ़ स्थित करनेके लिये वह उनका एक प्रचण्ड
साधन है अतः उसे धारण करने तथा बढ़ानेकी चेष्टा उन्हींको
शोभा देती है। पुरुषोंको अपनी शूरता, चतुरता आदिका गर्व
जैसे शोभाप्रद होताहै वैसेही स्त्रियोंको उनका रूपगर्विता होना
फबताहै; क्योंकि वह स्त्रीजाति के लिये एक बढिया भूषण माना
जाताहै। पर उनकी मृदुता, भीरुता प्रभृतिगुण जैसे पुरुषोंको दोष-
रूप होतेहैं, वैसेही सुभगताका अभिमान और अङ्गविक्षेपादिकी
अभिरुची पुरुषजातिके लिये नितान्त निन्द्यहै। अब अन्तिम और
सबसे बड़ा प्रकरण विद्याका रहगयाहै उसके विषयमें सविस्तर
लिखना अभीष्ट जानपडताहै। क्योंकि संप्रति हमारा देश मानों

घोर निद्रासे सहसा जागृत हुए कैसा जानपड़ताहै, और उसी यह प्रभाव है कि घरोंघर विद्वत्ताके नगाड़े बजतेसे दिखाई देते हैं हमारे यहां हमें ज्ञानामृत पिलानेके लिये जो चारोंओर ७ प्रारम्भ किये गयेहैं, उनके अभीसे जो फल दृष्टिपथमें ।नेल उनसे अनुमान होताहै कि हमारे शिक्षागुरुलोगोंकी इच्छा ् सफल होगी । ज्ञानामृतका पात्र योंहीं होठोंसे लगा हैमलोगोंने उसका एक घूंट स्यातही पियाहो, पर इतनेहीमें चारों ओर कैसे आश्चर्य कौतूहल दृष्टिगत होनेलगे है । देखिये, स्वयं कालिदास होमर और मिलटन आदिके मुंहमें तमाचे लगानेवाले महान् कवि ईसामसीह, महम्मद जैसोंको एकओर रख धर्म स्थापित करनेवाले आचार्य; डिमास्थेनीस, सिसरोप्रभृति भी जिनकी सुरस वक्तृताको सुन चित्रार्पितसे होरहें ऐसे प्रचण्डवक्ता; वैसेही महान् २ पण्डित शिल्पज्ञ, आदिका समुदाय प्रादुर्भूतहो उसने चारोंओर घोर आन्दोलनसा मचादिया है । इतने थोड़े से समयमेंही इन सब उलटफेर को देख आगे क्या होगा सो कुछ नहीं जानपड़ता । जब एक समयावच्छेदद्वारा सहस्रों महाकवियोंका निनाद धरतीपर होनेलगेगा, और सहस्रावधि प्रचण्ड वक्ताओंके वक्तृताकी एक साथही गर्जना होने लगेगी तब क्या आश्चर्य कि आकाशमण्डल वसुंधरा पर न आजाय ! सारांश उक्त विलक्षण अवस्थाको देख यह कल्पना होतीहै कि, बैबलमें जो लिखाहै कि संसारके अन्तमें प्रभु ईसामसीह एक हजार वर्षलों शासन करेंगे सो क्या वह परमसुखका समय नगचाने तौ नहीं लगाहै ? उन प्रभुने अपना पहिला अवतार हमारे एशिया महादेशमेंही लियाथा, तदनुसार अन्तिम बार यदि उन्होंने यहीं अवतीर्ण होना विचारा हो तो ईश्वर ही जाने ! तात्पर्य हमारे देशमें इस अल्पकालमें विद्या आदिका जो फैलाव हुआहै, सो कुछ अपूर्वही है । परन्तु इस विस्तारके अनुसार लोगोंमें ज्ञान एवं विवेककी वृद्धि कहांलों हुईहै यह जो जानना चाहेगा उसे

क निरालेही प्रकारसे संतोष मान लेनापडेगा। हमारे लोगोंकी द्धिका विलास और तज्जात साहस कार्यकलाप जो ऊपर कहे येहैं उनकी यथार्थताका विचार करनेसे विज्ञलोगोंको ज्ञात हो ायगा कि हमलोगोंको अभी जो थोड़े कालसे ज्ञानका संस्कार ोचला है तज्जन्य यह दुर्विकार बहिर्गत होरहेहैं। मनुष्यके तिमिरा- च्छादित मनमें ज्ञानभास्करकी किरणोंका जब प्रवेश होने लगता तब आदिमें गर्वादि दुष्ट मनोवृत्ति उसे किसप्रकारसे दबाना ाहतीहैं उसका नीचे सविस्तर वर्णन कियाजाताहै। महर्षि भर्तृहरी ी अपने नीतिशतकमें लिखतेहैं कि:—

> यदा किंचिज्ज्ञोऽहं द्विप इव मदान्धः समभवं
> तदा सर्वज्ञोऽस्मीत्यभवदवलिप्तं मम मनः।
> यदा किंचित्किंचिद्बुधजनसकाशादवगतं
> तदा मूर्खोऽस्मीति ज्वर इव मदो मे व्यपगतः॥

"जबमैं योंही कुछ थोड़ा बहुत समझने बूझने लगाथा तब हाथी की नाई मदान्ध(मदशब्द द्व्यर्थी है) होगयाथा, और यही अभि- ान रखता था कि मैं सर्वज्ञहूं। पर आगे जैसे २ मुझे पण्डित लोगोंके सत्संगसे थोड़ा २ ज्ञान प्राप्त होतेगया वैसे २ मुझे वि- श्वास होते गया कि मैं मूर्खहूं। इस प्रकारसे मेरा वह मद ज्वरकी नाई क्रम क्रमशः उतरगया।

कहना नहीं होगा कि उक्त पद्यकी सृष्टि कविके आत्मानुभवसे हुईहै। और जिनलोगोंकी दृष्टि यथार्थ ज्ञानलों पहुँच चुकी होगी उन सबको उक्त बातका प्रत्यय आही गया होगा। इसके सिवा जो मनुष्य सम्यक् विचार करेगा कि अधीत करने के विषय कितने है, मानवबुद्धि कैसी अल्प है, उसे तुरन्तही बोध होजायगा कि मनुष्यका अपने ज्ञानके लिये अभिमानी होना प्रचण्ड मूर्खता है।

भाग सबसे निम्न मानाजाताहै, पर इतनी वडी पांच मील की उंचाई और पांच मीलकी निचाई विद्यमान होनेपर भी यह धरातल खासा गोलाकारही दिखाई देताहै!! इसका प्रत्यक्ष अनुभव चन्द्रविम्बद्वारा होताहै; अर्थात् चन्द्रपर धरती की नाईही पर्वत आदि होनेपर भी यहां से उसका किनारा एकसा गोल दृष्टिगत होताहै। वा पृथ्वीका ही पृष्ठभाग देखना हो तो वह चन्द्रग्रहणके समय चन्द्रविम्बों पर छायारूपसे सबको दृग्गोचर होताहै। हिमलयादि नगाधिराजोंने अपने २ उत्तुङ्ग एवं गगनभेदी हजारों शिखरोंको यद्यपि आकाशमें उपस्थित कररक्खाहै तथापि उक्त ग्रहणके समय चन्द्रविम्बोंपर धरातल की छाया खासी गोलाकार ही पड़तीहै। ऐसे प्रचण्ड एवं विशाल पर्वतोंके योगसे भी उसकी आकृतिमें कहीं कुछ अणुमात्र शाखासी भी नहीं दिखाई देती। तात्पर्य, उक्त दृष्टान्त द्वारा हमारे विज्ञ एवं विवेकी पाठकोंको लक्षित होसकताहै कि पदार्थोंकी उंचाई जैसे सदा सापेक्षही रहतीहै ठीक वही बात मनुष्यके ज्ञानकी भी है।

उक्त उपपादनसे यह एक बड़ीभारी बात निर्द्धारित होतीहै कि ज्ञान अनन्तहै; एतावता मनुष्य कैसे अल्पज्ञ एवं क्षुद्रजन्तुको ज्ञानका गर्व मानना बिलकुल शोभाप्रद नहीं होता। अपनेसे जिसे कम ज्ञानहै उसके समीप चाहे जैसा अभिमान चल जा सकता है, पर उसकी यथार्थता विचारी जाय तो यही सिद्ध होगा कि उक्त अभिमान मानना वैसाही तुच्छ एवं नीच हृदयका साक्षी है जैसे कि एक चिंवटा मैं चिंवटी से बडाहूं मानकर अभिमान करे। यथार्थविद् लोग इसी बातको जानकर अपने ज्ञानका अभिमान नहीं मानते और अपरलोगोंकी अवहेलना वा अपमान कदापि नहीं करते। वे अपने ज्ञानकी सीमा

को पूर्णरूपसे जानलेते हैं । इसप्रकारका मनोनिग्रहही तत्त्वविज्ञका सच्चा चिह्न है, और इसके विपरीत का प्रत्यय अत्यन्त मूर्खताका सूचकहै । इसीलिये किसी चतुर ग्रन्थकारने कहाहै कि; तत्त्ववेत्ता अपनेको ज्ञानशून्य माना करता है और मूर्ख अपनेको सर्वज्ञ माना करता है । इन दोनों प्रकारके उदाहरणभी बहुत कुछ उपलब्ध होसकते हैं । हमारे बहुतेरे पाठकोंको साक्रेटीसकी बात विदितही होगी । उसने जब सुनाथा कि डेलफायके देवताने लोगोंको विश्वास दिलाया है कि समस्त ग्रीसदेशनिवासी लोगोंकी अपेक्षा साक्रेटीस अधिक चतुर है तब वह बडी उलझन में पडगयाथा । वह यह बात विचारता था कि, मुझे तो जानपडताहै कि मेरा ज्ञान बहुतही अल्प है । और उक्त देवताने मुझे सर्वोपरि ज्ञानसम्पन्न कहाहै अब इन दोनों परस्पर विरुद्ध बातोंका एकसाथ अस्तित्व क्योंकर सम्भूत होसकताहै ? पर आगे इस बातपर वह जैसा २ मनन करतेगया उसे विश्वास होगया कि जो लोग अपनेको बडा चतुर एवं बुद्धिमान् मानतेहैं, वास्तवमें वे अल्पज्ञही रहतेहैं, उनमें और मुझमें विशेष भेद इतनाहीहै कि मैं अपने अज्ञानको समझता हूं और वे उसे नहीं समझते ! ऐसाही प्रशसनीय उदाहरण न्यूटन काभीहै । इस महान् पण्डितने ऐसे २ अनोखे आविष्कार संसार में प्रकटित किये पर तौभी उसने अपनी जीवनयात्रा शेष करनेके कुछ वर्ष पूर्व अपने विषयमें यह विलक्षण लेख लिखरक्खाहै "मेरे विषय में लोग कैसेही आश्चर्य चकितहों, पर मुझे तो यही जान पड़ताहै कि जैसे कोई बालक समुद्र कूलपर क्रीडा करता है और वहांके चिकने और गोल २ कंकरोंको चमत्कारिक जान एकत्रित करता है, मेरी बातभी ठीक वैसीहीहै; जिन्हें मैं नहीं जानता ऐसे करोड़ों प्रमेयोंका सागर तो न जाने मुझसे अभी कितनी दूरीपर

है !" साराश सब देशोंमें जो बड़े २ नामी तत्त्ववेत्तागण होगये है उन सबका पूर्ण सिद्धान्त यही पायाजाताहै । अब उक्त प्रकारके विपक्षका विचार करतेहैं । संसारमें ऐसा विरलाही स्थल होगा कि जहां इसकी ऊनताहो । इन लोगोंको स्वप्नमें भी अपने अज्ञानका बोध नहीं होता । इसके सिवा उसे जाननेकी इन्हें इच्छाभी नहीं रहती । इन लोगोंकी सदा यही इच्छा बनी रहतीहै कि सबलोग इमें सर्वज्ञताका मान दियाकरें: और इस हेतुकी सिद्धिके लिये ये लोग अपने भरसक सब विषयोंमें अपनी पूर्णता एवं दक्षता दिखलानेके लिये अणुमात्र कसर नहीं करतेहैं । पर यह हो कैसे सकताहै हां इतना अलबत्ते होसकताहै कि लोभवश जिनकी बुद्धि तिमिराच्छादित होजातीहै उन मूर्खलोगोंको प्रतारित करने के लिये उक्त नरपिशाचोंकी उक्त दिखावटी सर्वज्ञता बहुत उपयोगी होती है । पर साथही यहभी कहना पडताहै कि संसारमें सबही लोग तो निज हिताहित ज्ञानशून्य रहतेही नहीं कि जो उक्तदुष्टोंकी चालमें आजावें, अन्तमें उक्त मानवरूप राक्षसोंकी धूर्तता कि जिसे वे सर्वज्ञताके आवरणके नीचे छिपाये रहतेहैं, सर्वसाधारणको दृष्टिगत होजातीहै, और उनकी अधमताका उचितफल उन्हें प्राप्त होजाताहै । तात्पर्य विज्ञ और अबोधलोगोंकी समझमें उक्तप्रकारकी विभिन्नता पाई जातीहै ।

(७) यहांलों वर्तमान विषयके एक अङ्गकी आलोचना हुई । अर्थात् अल्पज्ञलोगोंमें जिस प्रकार के गर्वकी स्थिति पाई जातीहै उसका वर्णन हुआ । अब आगे उक्त मनोवृत्तिकी उस अवस्थाका निर्देश किया जाताहै जिसमें उसकी दोषरूपता नष्ट हो वह मनुष्यकी कीर्ति एवं शोभाका कारण होतीहै ।

गर्वके जिन प्रकरणोंका ऊपर विचार हुआहै वे वही हैं जो हमारी भाषामें 'उन्मत्तता' 'घमण्ड' 'अहंकार' 'अहंमति' प्रभृति निन्दा

व्यञ्जक शब्दो द्वारा प्रदर्शित कियेजातेहै। इसमें कोई संदेह नहीं कि ये सर्वथा सदोष होने के कारण विज्ञलोगों द्वारा अत्यन्त त्याज्यहैं। पर गर्वके ऐसेभी कुछ भेदहै जो उक्त प्रकारों कैसे निन्द्य न होनेके कारण सज्जन और बड़े नामी लोगोंमें पायेजातेहै। अब आगे उन्हींका निरूपण किया जाता हैं।

(८) एक भेद तो योग्यरीतिके गर्वका माना जाताहै। व्यक्ति विशेषमें जो यथार्थ गुणहों, उनके विषयमें सदा उसका आत्मश्लाघा करना यद्यपि मनुष्य धर्म से बहिः है, अतः उसे सुननेवाले का जीभी उकता जाताहै; पर तौभी उसके विषयमें यथायोग्य गर्व धारण करनेसे मनुष्य सर्वथा दोषपात्रही नहीं होजाता। जो ऐसे मनुष्यके द्वेषी रहतेहैं, वा स्वभावतः जो लोग किसीका उत्कर्ष नहीं देखसकते, उन मत्सरीलोगोंको उक्त यथार्थ गर्व भी दुःसह होताहै सो ठीकही है और साथही यहभी ठीक है कि वे तदर्थ उसकी निन्दा वा बुराई करनेमें तिलमात्र कसर छोडना अपनी उत्पत्तिको कलङ्कित करने कैसा समझतेहैं; पर जो लोग न्यायी और सत्यके पक्षपाती होतेह उन्हें उक्त यथार्थ गर्वधारकके वर्तावमें अणुमात्रभी दोष नही दीख पडता। इसके लिये व्यवहारगत उदाहरण लीजिये। प्रत्येक मनुष्य जो अपनी आय और ऐश्वर्यके अनुसार अपना वर्ताव रख अपनी अवस्थाके अनुसार वस्त्रादि धारण करताहै, उसे ससारमें कोई नाम नहीं रखता। पर उक्त मर्यादा उल्लङ्घितकर जो व्यर्थमें अपना आतङ्क लोगोंपर जमाया चाहताहै, उसका किसीकारण वश सामने नहीं तो पीछे, लोग, उपहासही करतेहैं, और यही ठीकभीहै। और ठीक ऐसीही अवस्था उसकी भी होतीहै जो अपनी यथार्थ योग्यता की अपेक्षा अधिक विद्वत्ता का घमण्ड लोगों पर प्रदर्शित किया करताहै। पर संसारमें जो

है !" सारांश सब देशोंमें जो बडे २ नामी तत्ववेत्तागण होगये हैं उन सबका पूर्ण सिद्धान्त यही पायाजाताहै । अब उक्त प्रकारके विपक्षका विचार करतेहैं । संसारमें ऐसा बिरलाही स्थल होगा कि जहां इसकी ऊनताहो । इन लोगोंको स्वप्नमें भी अपने अज्ञानका बोध नहीं होता । इसके सिवा उसे जाननेकी इन्हें इच्छाभी नहीं रहती । इन लोगोंकी सदा यही इच्छा बनी रहतीहै कि सबलोग हमें सर्वज्ञताका मान दियाकरें; और इस हेतुकी सिद्धिके लिये ये लोग अपने भरसक सब विषयोंमें अपनी पूर्णता एवं दक्षता दिखलानेके लिये अणुमात्र कसर नहीं करतेहैं। पर यह हो कैसे सकताहै? हां इतना अलबत्ते होसकताहै कि लोभवश जिनकी बुद्धि तिमिराच्छादित होजातीहै उन मूर्खलोगोंको प्रतारित करने के लिये उक्त नर पिशाचोंकी उक्त दिखावटी सर्वज्ञता बहुत उपयोगी होती है । पर साथही यहभी कहना पडताहै कि संसारमें सबही लोग तो निज हिताहित ज्ञानशून्य रहतेही नहीं कि जो उक्तदुष्टोंकी चालमें आजावें, अन्तमें उक्त मानवरूप राक्षसोंकी धूर्तता कि जिसे वे सर्वज्ञताके आवरणके नीचे छिपाये रहतेहैं, सर्वसाधारणको दृष्टिगत होजातीहै, और उनकी अधमताका उचितफल उन्हें प्राप्त होजाताहै । तात्पर्य विज्ञ और अबोधलोगोंकी समझमें उक्तप्रकारकी विभिन्नता पाई जातीहै ।

(७) यहांलों वर्तमान विषयके एक अङ्गकी आलोचना हुई। अर्थात् अल्पज्ञलोगोंमें जिस प्रकारके गर्वकी स्थिति पाई जातीहै उसका वर्णन हुआ । अब आगे उक्त मनोवृत्तिकी उस अवस्थाका निर्देश किया जाताहै जिसमें उसकी दोषरूपता नष्ट हो वह मनुष्य की कीर्ति एवं शोभाका कारण होतीहै ।

गर्वके जिन प्रकरणोंका ऊपर विचार हुआहै वे वही हैं जो हमारी भाषामें 'उन्मत्तता' 'घमण्ड' 'अहंकार' 'अहंमति' प्रभृति निन्दा

व्यञ्जक शब्दों द्वारा प्रदर्शित कियेजातेहै । इसमें कोई संदेह नहीं कि ये सर्वथा सदोष होने के कारण विज्ञलोगों द्वारा अत्यन्त त्याज्यहैं । पर गर्वके ऐसेभी कुछ भेदहैं जो उक्त प्रकारो कैसे निन्द्य न होनेके कारण सज्जन और बड़े नामी लोगोंमे पायेजातेहैं । अब आगे उन्हींका निरूपण किया जाता हैं ।

(८) एक भेद तो योग्यरीतिके गर्वका माना जाताहै । व्यक्ति विशेषमें जो यथार्थ गुणहों, उनके विषयमें सदा उसका आत्म-श्लाघा करना यद्यपि मनुष्य धर्म से बहिःहै, अतः उसे सुननेवाले का जीभी उकता जाताहै; पर तौभीं उसके विषयमें यथायोग्य गर्व धारण करनेसे मनुष्य सर्वथा दोषपात्रही नहीं होजाता । जो ऐसे मनुष्यके द्वेषी रहतेहैं, वा स्वभावतः जो लोग किसीका उत्कर्ष नहीं देखसकते, उन मत्सरीलोगोंको उक्त यथार्थ गर्व भी दुःसह होताहै तो ठीकही है और साथही यहभी ठीक है कि वे तदर्थ उसकी निन्दा वा बुराई करनेमें तिलमात्र कसर छोडना अपनी उत्पत्तिको कलङ्कित करने कैसा समझतेहैं; पर जो लोग न्यायी और सत्यके पक्षपाती होतेंहै उन्हें उक्त यथार्थ गर्वधारकके वर्तावमें अणुमात्रभी दोष नहीं दीख पडता । इसके लिये व्यवहारगत उदाहरण ली जिये । प्रत्येक मनुष्य जो अपनी आय और ऐश्वर्यके अनुसार अपना वर्ताव रख अपनी अवस्थाके अनुसार वस्त्रादि धारण करताहै, उसे संसारमें कोई नाम नहीं रखता । पर उक्त मर्यादा उल्लङ्घितकर जो व्यर्थमें अपना आतङ्क लोगोंपर जमाया चाहताहै, उसका किसीकारण वश सामने नहीं तो पीछे लोग उपहासही करतेहै, और यही ठीकभीहै । और ठीक ऐसीही अवस्था उसकी भी होतीहैं जो अपनी यथार्थ योग्यता की अपेक्षा अधिक विद्वत्ता का घमण्ड लोगों पर प्रदर्शित किया करताहै । पर संसारमें जो

अपनी यथार्थ योग्यतानुसार वर्ताव रखताहै वह जैसे दूषित न किया जासकता तद्वत् जो अपनी योग्यतानुरूप अपने यथार्थगुण का अपने मनमें अभिमान मानताहै वहभी दूषित नहीं होसकता पर यह बात सर्वसाधारणके विषयमें, साधारणतयाही कही जा सकतीहै । गुणवान् लोगोंमें अग्रगण्य होनेके कारण लोग जग पूज्य माने जातेहै, और सवलोग जिनकी प्रशंसा करनेमें अपनी महत् प्रतिष्ठा मानतेहैं उनकी बात तो उक्त बातसे कहीं बढ़कर है सामान्य प्रकारके नामीलोगोंके विषयमें तो इतनाही दीखपड़ता कि उनका यथार्थ गर्व उन्हें दूषित नहीं करता; पर उक्त कैसे श्रे जन मण्डलीको वह दोषावह न होकर उलटा उनकी विशेषशोभा का कारण होताहै । इसके उदाहरण स्वरूपमें सम्राट् राजाकी बा कही जा सकतीहै कि उसके अधिकाधिक विभव एवं, ऐश्वर्य प्रदर्शित करना उसकी अधिकतर शोभाका सहायक होताहै । उ दृष्टान्तको जो लोग यथार्थ समझेंगे उन्हें भिन्न २ देशोंमें महान् ग्रन्थकारादिकों ने आत्मश्लाघाके विषय में जो लिखाहै सो प तृणमात्र भी आश्चर्य न होगा और पढते समय हृदयवृत्ति कि प्रकार की होनीचाहिये सो भी उन्हें ज्ञात होजायगा । अस्तु; अ नीचे इनके उदाहरण स्वरूपमें कुछ बातें लिखी जातीहैं ।

यह बात प्रायः सबलोग सुनचुके होंगे कि इंग्लैंडमें अनुमान दोसौ वर्षके पूर्व मिल्टननामका एक बड़ा नामी कवि होगयाहै । इस कविके लेखमें आत्मश्लाघा संयुत उल्लेख ठौर २ पर पायेजातेहैं । इस कविने जब जाना कि मेरी नूतनताके कारण मेरे अरसिक समकालीनलोग मेरी विलक्षण प्रतिभाकी योग्यता नहीं समझसकते तब इसने अपने लेखग्रन्थमें एकस्थानपर यह लिखा कि " मैं इससमय यदि जन्म न ग्रहण करता किन्तु इसकेपूर्वेही जन्मग्रहण करचुकता तो बहुतही

उत्तम हुआ होता" *चरम अवस्थामें जब इस कविके पक्षका समूल नाश होगया और विपक्षियों की जयहुई जो कि उसके अत्यन्त विपत्तिका कारण हुई उसका भी इसने अपने काव्य में स्थान स्थान पर उल्लेख कियाहै। युवावस्थामें अत्यन्त अभ्यास करने के कारण अन्तमें इसके नेत्र जातेरहे। जिसके कारण इसे अपने बुढ़ापे के दिन बड़े दुखके साथ काटना पड़े, इत्यादि घटनाओंका वर्णन इसने दो मुख्य स्थानों पर कियाहै। एकतो अपने महाकाव्यके तीसरे सर्गके आदिमें और दूसरा 'स्यामसन्एगोनिस्टस्' नामक नाटक के प्रारम्भमेंही पाया जाताहै। इसके उक्त दोनों स्थलोंको पढ़ जिनके हृदय करुण और उदात्त रससे व्याकुल नहीं होजाते उन्हें धन्य पुरुष मानना कोई अनुचित बात नहींहै। इसके सिवा दूसरा उदाहरण वर्डस्वर्थनामक कविका है। यह कवि अभी अनुमान तीस पैंतीस वर्षके पूर्व लोकान्तरवासी हुआहै। इस कवि की योग्यता यद्यपि उक्त कविके तुल्य न थी, तथापि वर्तमान शताब्दीमें इंग्लैंड में जो कई महान् २ कवि होगयेहैं उनमें यह सर्वसाधारणके मतसे प्रधान मानाजाताहै। पर यह मान इसे अब इधरही प्राप्त हुआहै। इसके जीवितकालमें छोटे बड़े रसिक अरसिक विद्वान् अबोध सब लोग इसकी कविताका अत्यन्त उपहास किया करतेथे। पर यह उदात्तचित्त कवि उन सबके व्यर्थ बकवाद की उपेक्षा कर भावी समयपर अपनी आशाको स्थितकर बड़े साहससे कालातिपात करता था; और अन्तमें उसीकी जीत हुई। तात्पर्य यहहै कि इस कविके

* इसके विषयमें कुछ २ ऐसीही सम्मति इसके विपक्षी जानसन्नेभी एक निरालेही ढग से लिखी है —

" His work is not the greatest of heroic poems only because it is not the first."

Life of Milton

लेखमें भी आत्मश्लाघा संयुक्त वर्णन उपलब्ध होतेहै। हमारे संस्कृ
के कवियोंमें भी उक्त बातका अभाव नहींहै। अनुमान से यह बा
जानी जातीहै कि उक्त वर्डस्वर्थ की नाईं हमारे सुप्रसिद्ध कवि भवभूति
की अवस्था हुई होगी। सामान्यतः पण्डितजन यद्यपि यह समझते
कि भोजराजाके आश्रयमें जो कविरत्नथे उन्हीं में कालिदासादिक
की मण्डलीमें उक्त कवि भी था तौभी अनुसंधानशील लोगोंने
यह बात निश्चित करदीहै कि उक्त कविरत्नावलिमें भवभूति न था।
भवभूति के ग्रन्थों में कहीं २ ऐसे उल्लेख पायेजाते हैं जिनसे यह स्पष्ट
होताहै कि उसे गुणज्ञोंकी प्रशंसा और राजसत्कार दोनों नहीं प्राप्त
हुए। उलटे अरसिकों द्वारा वह अवकृत कियागया ऐसाही बोध होता
है इसके प्रत्यक्षप्रमाण स्वरूपमें नीचे एक श्लोक उद्धृत कियाजाताहै।

ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्तु ते किमपि तान् प्रतिनैष यत्नः।
उत्पत्स्यतेऽस्ति मम कोपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी॥

मालतीमाधव।

"जो लोग चारोंओर मेरी अवज्ञा विस्तृत करतेहै उन्हें दृढ़तया
समझलेना चाहिये कि उनके अर्थ मेरा यह यत्नही नहींहै। मुझे
दृढ़ भरोसा है कि जिसके मनोधर्म मेरे मनोधर्मकी नाईं होंगे ऐसा
कोई न कोई कहीं होवेहीगा वा आगे उत्पन्न होगा; क्योंकि काल
अनन्तहै और पृथिवी विस्तीर्ण है।"

उक्त श्लोकका अनुवाद अंगरेजीमें यदि पद्यस्वरूपमें कियाजाय
तो वह वर्डस्वर्थ काही लिखाहुआ है यह कहनेको कोई तनिकभी न-
हिचकेगा, क्योंकि दोनोंमें ऐसीही घनिष्ठ साम्यता पाईजाती है।
साराश अपने समयके गुणानभिज्ञलोगों की निर्भर्त्सना उक्त महान

कवियोंके ग्रन्थोंमें दृष्टिगत होती है और उनके उक्त लेख ऐसे प्रभावोत्पादक है कि उन्हें पढ़ सहृदय पाठक अत्यन्त तल्लीन होजातेहैं। ऐसीही सुतरां इससे कहीं बढ़के उद्दण्डता संस्कृतके अर्वाचीन कवि पण्डितराज जगन्नाथ पण्डितकी कवितामें पाई जाती है। इसके कतिपय उदाहरण नीचे उल्लिखित किये जाते हैं।

'भामिनीविलास' के प्रथमभागमें प्रायः समस्त अन्योक्तिही हैं, वहां आदिमेंही पण्डितराज गर्जना करते हैः—

दिगन्ते श्रूयन्ते मदमलिनगण्डाः करटिनः
करिण्यः कारुण्यास्पदमसमशीलाः खलु मृगाः।
इदानीं लोकेऽस्मिन्ननुपमशिखानां पुनरयं
नखानां पाण्डित्यं प्रकटयतु कस्मिन्मृगपतिः॥

"मदोदकसे जिनके गण्डस्थल मलीन होगयेहैं ऐसे हाथी दिगन्तरमेंहै ऐसी जनचर्चा सुनीजाती है और आसपास केवल करुणापात्र हस्तिनी तथा क्षुद्रजन्तुही दृष्टिपथमें आतेहैं तो ऐसे समयमें मृगराज सिंह अपने अत्यन्त तीव्र नखोंका पाण्डित्य कहां प्रकटित करे?*

वैसेही उक्त ग्रन्थ के अन्त अन्त में

आमूलाद्रत्नसानोर्मलयवलयितादाचकूलात्पयोधेः

---

* उक्त अन्योक्ति कवि ने निज के विषय में लिखी है। उसका अभिप्राय यही है कि प्राचीनकाल में कालिदासादि महान् कवि होगये पर अब उनके जैसे कोई नहीं पायेजाते और जो पाये जाते हैं वे बापुरे 'कारुण्यास्पद' करुणा करने के योग्य, अार शुद्र पाये जाते हैं। ऐसी अवस्था में अब हम यदि किसी से सामना किया चाहें तो करें किससे? उक्त श्लोक का भावार्थ किसी भाषा कवि ने यों लिखा है —

लोग कहें दिग अन्त बसैं मदमत्त करी मदअम्बु चुचाते
सन्निधिवास करें करिणीरु मृगा लखिकै करुणाद्रिय आते।
सम्प्रति आय कहा जगतो असमान चलै प्रगटै मनभाते
गर्जत केसरि यों इतराजत निरय नखो भल ईशमभाते॥

यावन्तः सन्ति काव्यप्रणयनपटवस्ते विशङ्कं वदन्तु
मृद्वीकामध्यनिर्यन्मसृणमदधुरी† माधुरीभाग्यभाजां
वाचामाचार्यतायाः पदमनुभवितुं कोऽस्ति धन्यो मदन्यः ।

"सुमेरुपर्वतके मूलसे लगाकर मलयवेष्टित सागरके कूलपर्यन्त (अर्थात् समस्त भारतवर्षमें) जो काव्यरचना निपुण हों वे सब निश्शङ्कहो कहै कि द्राक्षसम्भूतरसके समान अत्यन्त मधुरशीला वाणीके स्वामित्वपदका अनुभव लेनेवाला मदतिरिक्त अपर कौन धन्य पुरुष है ? (अर्थात् मेरे समान रसपूरित काव्य करनेवाला दूसरा कौनहै ?)

ऐसाही अन्तिम श्लोक—

शास्त्राण्याकलितानि नित्यविधयः सर्वेऽपि सम्भाविताः
दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले नीतं नवीनं वयः ।
संप्रत्युज्झितमासनं * मधुपुरीमध्ये हरिः सेव्यते
सर्वं पण्डितराजराजितिलकेनाकारि लोकाधिकम् ॥

" समस्त शास्त्रोंका अध्ययन किया, सकल नित्य विधि भी साधे, दिल्लीनरेशके आश्रित रहकर युवावस्था व्यतीत की (अर्थात् बादशाहने अत्यन्त समादृत किया) और अब विषयवासनाओं का परित्यागकर मथुराक्षेत्रमें हरिकी सेवा करताहूं; सारांश, पण्डितराजश्रेणीके तिलक स्वरूप (जगन्नाथने) ऐसा कौनसा लोकोत्तर कार्य्य है जो नहीं किया ?

साहित्यके अद्वितीय ग्रन्थरस गङ्गाधरके आदिमें आप लिखतेहैं:—

निर्माय नूतनमुदाहरणानि रूपं
काव्यं मयाऽत्र निहितं न परस्य किञ्चित् ।
किं सेव्यते सुमनसा मनसाऽपि गन्धः
कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ॥

† कहीं कहीं 'रसभरी' भी पाठ पाया जाता है ।
* कहीं कहीं 'सम्पत्युज्झितवासन' भी पाठ पायाजाता है ।

"मैंने इस ग्रन्थमें नये उदाहरण रचकर संनिविष्ट किये हैं, अन्यकृत उदाहरण नाममात्र को भी नहीं लिखे, क्योंकि जिस मृगमें कस्तूरी उपजानेकी शक्ति होती है वह पुष्पके सुगन्ध की परवाहही क्या करता है ?" (बलिहारी है इस दर्पोक्ति की)

हमारे विज्ञ पाठकों को यह लक्षित होही जायगा कि उक्तश्लोकों में पण्डितराज की दिगन्तर व्यापिनी समुज्ज्वल कीर्ति प्रत्यक्षरूप से विद्यमान है।*

अब मराठी भाषाके कवियोंके विषयमें विचारांश कियाजाता है। अन्यभाषा कवियों की अपेक्षा इनका ढंगही कुछ निरालाहै अर्थात् उक्त भाषामें जो कवि हुए हैं वे प्रायः साधु एवं भगवद्भक्तही रहे हैं एतावता उनकी कवितामें उक्त आत्मश्लाघापूरित उल्लेख कैसे उल्लेख प्रायः नहीं पाये जाते क्योंकि साधु और अहंकारमें परस्पर अत्यन्त विरोध रहता है सो सब पण्डितलोग जानतेही हैं। इन कवियोंके काव्यमें काव्यताका गर्व नहीं पायाजाता तौ भी तुकाराम कैसोंने निजके विषयमें जो स्थान स्थानपर लिखा है उससे उनकी आत्मश्लाघा स्पष्टरूपसे जानी जाती है। इसके सिवा उक्त

---

* अकबर बादशाह को सम्बोधन देकर लिखाहुआ एक श्लोक हमें उपलब्ध हुआ है वह यह है —

> जगद्दलाभूपते ! वदति यद्यपि त्वां नृप
> मत तु हरिशर्मणो हरिरसि त्वमेव ध्रुवम् ।
> अकब्बरमहीश्वर ज्वलदधासुरमासत
> प्रजा सह निजात्मना कथमथान्यथारक्षिता ॥

उक्त हरिशर्मा न जाने कौन हैं ?

कैसी आत्मश्लाघोक्ति मोरोपंत, रघुनाथ पण्डित, और रामजोशी के ग्रन्थमें विशेषतः पाई जाती है।*

तो इस प्रकारसे अंगरेजी, संस्कृत और भाषाके कवियोंने आत्म रचित ग्रन्थों में स्थान स्थानपर स्पष्टरूपसे जो आत्मश्लाघा वा दर्पोक्ति लिखी हैं उनमें से थोडीसी ऊपर उल्लिखित की गई। अब इसको पढ हमारे बहुतेरे पाठकगण बहुधा यह विचारेंगे कि सब सज्जन लोग जो कहा करते हैं कि अपने मुंह अपनी प्रशंसा कभी न करनी चाहिये, क्योंकि वैसा करना मूर्खता का चिह्न है सो वह और उक्तकथन परस्परानुमोदित कैसे होसकते हैं ? उक्त कविगणोंने ऐसे ज्ञानी होनेपर भी ऐसे अनुचित कर्म क्यों किये? उनका अनुष्ठान न जाने उन्हें उचित कैसे जानपड़ा ? इसके उत्तर में हम यही कहते है कि उक्त नियम यद्यपि सामान्यतः यथार्थ है तौभी बहुत स्थानो पर वह अपवादस्वरूप होजाता है। विचारने की बात है कि निजकी प्रशंसा यद्यपि उचित नहीं है तथापि ह्यूम, गिवन् मिल्लप्रभृति ग्रन्थकारोंने अपनी जीवनी स्वयं लिखी हैं; तदर्थ उन्हें कोई दोष नहीं देता सुतरां वे स्वरचित जीवनचरित होनेके कारण लोग उन्हें बडे चावसे पढ़ते है। उसी प्रकारसे सीजर और बाबरने अपने २ ग्रन्थमें निजके पराक्रम का स्वयं वर्णन कियाहै तथापि वे सदोष न माने जाकर जगत्प्रियही माने गये हैं। अब देखा जाय कि उक्त प्रतिपादनसे क्या स्पष्ट होताहै ? अर्थात् यही स्पष्ट होताहै कि निजके विषयका वर्णन यदि यथार्थ हो तो वह दोषपात्र नहीं होता। इसके सिवा दूसरी बात यह है

* खेदका विषय है कि समय, स्थान तथा अवस्थाकी अनुकूलता न होनेके कारण हिन्दीके कवियों के विषयमें कुछ भी नहीं लिखागया। हिन्दी के कवियों का वर्णन भी कुछ होजाता तो उत्तम होता। परमेश्वर की कृपासे यदि यह लेख कृतविद्य लोगों को स्वीकृत हो प्रयोजनीय माना जायगा तो द्वितीय संस्करण के समय उक्त ऊनता भी पूर्ण करदी जायगी।

के गुणवान् लोगोंके भावते होने के कारण जब पहले सेही उन्हें मानमान्यता प्राप्त होचुकती है तब उन्हें आत्मश्लाघा के आश्रयकी कोई आवश्यकताही नहीं रहती। गुणवान् लोग सत्परीक्षकों की प्रशंसासे सन्तुष्ट हो अपने परिश्रमों को सफल मान स्वस्थ रहते हैं। पर जब ऐसा नहीं होता अर्थात् गुणकी चाह नहीं होती किन्तु उसका उपहास और अपमानही होता है, तब

> नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
> मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि ॥

"सुगन्धित पुष्पों की प्रकृतिसिद्ध योग्यता यही है कि वे सिर पर धारण कियेजायँ, नकि पददलित किये जायँ" इस नियम को भूल जब लोग किसी प्रचण्ड ग्रन्थकर्ताकी अवज्ञा कियाचाहते हैं, तब अपनी योग्यता प्रदर्शित करने के लिये आत्मप्रशंसा के व्यतिरेक उसे उपायान्तरही उपलब्ध नहीं होता। वह ग्रन्थकार यदि वैसा न करे, तो असामान्य तेजसंपन्न हीरा भी जैसे अबोध एवं मूर्खलोगोंकी उपेक्षा के कारण लुप्त हो खोजायगा, उसी प्रकार से उक्त ग्रन्थप्रणेता के गुण अप्रसिद्धही रहेंगे। ऊपर जिन कवियोंके ग्रन्थों से पद्य उद्धृत किये गयेहैं प्रायः उन सबको अपमान की घोर यन्त्रणा भोगनी पडी है तभी उन लोगों ने उसके सम्बन्ध से उक्त दर्पोक्ति प्रकटित की हैं। जब हम इस प्रकार से विचार करते हैं तब सहसा उनपर दोष नहीं आरोपित करसकते। इसके सिवा ऊपर एकबार कही चुके हैं कि अपनी योग्यता के अनुसार बढिया कपडे पहिरना जैसे अनुचित नहीं मानाजाता, और लोग उसे बुरा नहीं कहते, उसी प्रकारसे ग्रन्थकार लोगों का सच्चा अभिमान निन्द्य नहीं माना जाता। इस प्रकार से जब विचार कियाजाता है तो यही प्रतिपादित होता है कि जो ग्रन्थरचयितागण जगत्पूज्य माने जाते हैं उनका आत्माभिमान राजा-

धिराजाओं के अतुल विभव की नाईं कभी सदोष नहीं मानाजात वरन यह उनके भूषण का कारण मानाजाता है।

पर इतनाही अलम् न होगा। ऊपर जो कई कारण प्रदर्शित किये गये हैं वे पूर्वोक्त आत्मश्लाघा को सदोष समझ उसकी सदो पता दूर करने के अभिप्राय से ही कियेगये हैं। अब यह दिखलाय जाता है कि प्रायः सर्वसाधारण वा निदान रसिकजन उसे वैसा कदापि नहीं मानते। जैसे किसीके यावत् गुण दोष का वर्णन करना चित्रकार वा मूर्तिकार की कला के सदृश है; अर्थात् उक्त दो शिल्पी जिस प्रकार अविकलरूप से प्रतिमा उतारते और बनाते हैं ठीक वही काम गुण दोष विवेचकों का भी है। अब ऐसा मानलो कि जिस किसी को अपनी प्रतिकृति वा प्रतिमूर्ति उत्कृष्ट बनवानी हो वह बहुधा परमोत्कृष्ट चित्रकार वा मूर्तिकारकेही निकट जावेगा, पर यदि उक्त परमोत्तम चित्रकार वा मूर्तिकारकोही यह इच्छा हो कि अपनी कीर्तिको चिरस्थित करने के हेतु अपनी एक तसवीर वा मूर्ति अवश्य बनवानी चाहिये; तो फिर उसे किसके पास जाना चाहिये? ऐसा साहसी उसे कौन मिलनेवाला है, कि जो उसका यथेष्ट काम करसके? और वह काम जैसा अत्युत्तम चाहिये वैसा अपर कौन करसकेगा? ग्रीसदेशके इतिहास में तद्देशीय एक सर्वोपरि मूर्तिकार* के सम्बन्ध से यह बात लिखी पाईजाती है कि आथेन्स नगर में जब एक विशाल देवालय बन रहाथा और उसकी बाहिर की महेराप में वहां के देवों की मूर्ति खचित की जातीथीं उसी गडबड में उक्त मूर्तिकारने एक अपनी और एक अपने मालिक की

* यह मूर्तिकार फिडियस है। कहाजाता है कि आज पर्यन्त इसके समान कोई मूर्तिकार हुआही नहीं। इसकी बनाई हुई जुपिटर (इन्द्र) आदि देवताओं की मूर्ति अद्यावधि बड़ी सावधानी से रक्षित हैं, उन्हें देख आजपर्यन्त हज़ारों कारीगर लोगों ने दांतों में अंगुली दबाई है। यह शिल्पी पेरिक्लीज़ का परम मित्र था। इसीकी एक मूर्ति उसने अपनी मूर्ति के साथ बनाई थी जिसका वृत्तान्त आगे लिखा गया है।

मूर्ति बनाकर वहां खचित करदी और यह बात उस समय किसीको मालूम न होनेदी। पर आगे जब यह बात उसके विपक्षीलोगोंको विदित हुई तब उन लोगोंने तदर्थ उसपर अभियोग उपस्थित कर उसे सरकारसे घोर दण्ड कराया। अभिप्राय यहहै कि जो लोग महान् विख्यात होजाते हैं उनमें ऐसा स्वाभिमान कईबार दृग्गोचर होता है। पर हम समझते हैं कि जो सच्चे रसिकहैं वे तदर्थ उक्त मत्सरीलोगोंकी नाईं उनसे विरोध कदापि नहीं मानते वरन उन्हें अधिकतर सत्कृत करतेहैं। अब हम इस सदृशताको उक्त कवियों की ओर घटित करके कहते हैं कि जैसे फिडियसकी मूर्ति वा रेफीलकी + प्रतिकृति बनवानाहो तो वह काम फिडियस वा रेफील के समान और किसीसे कदापि न बनसकेगा, वैसेही पण्डितराज वा मिल्टन कैसे महान् कविके वाणीकी मधुरता नितान्त उत्तमतया वर्णित करनीहो तो वह काम स्वयं उनकी वाणी जितनी सरसतासे संपादित करसकेंगी वैसा अन्य किसीसे कदापि नहीं होसकेगा। सर्वसाधारण यद्यपि अपने मुंह कियेहुए अपने वर्णन को बुरा मानते हैं और उसे पढ़नेमें मुंह मोड़ते हैं, तथापि उक्त जैसे प्रसंगों पर उस वर्णनकी मधुरता और सचोटीसे चित्तवृत्ति ऐसी तल्लीन होजातीहै कि उस आनन्दातिभरमें पाठकोंका लक्ष दोषकी ओर जाही नहीं पाता। साराश जिस प्रकारसे समरभूमिमें महान् वीरोंकी वीरोक्ति आत्मश्लाघा संयुक्त होनेपर भी सुननेवालेका जी उनसे उकताता नहीं वरन उन्हें वे बड़े उत्साहसे श्रवण करतेहैं; वा मानवती स्त्रियोंकी रूपगर्वता जैसे उनकी सुन्दरताको विशेष रमणीक करती है और उनकी निर्भर्त्सनापूरित उक्ति उनके वल्लभों

+ रेफील भी फिडियसकी नाईं अपनी विद्यामें अत्यन्त निपुण होगयाहै। इसके बनाये हुए चित्र अभीलों रोमनगरमें प्रस्तुतहैं। असरव्य धनके लोभसे भी तत्रस्थ लोग उनका देना स्वीकृत नहीं करते। इसके विषयमें भी कहाजाताहै कि आजलों इसके समान कोई चित्रकार नहीं हुआ।

को अधिकतर हृद्यवोध होती हैं, वैसेही रसिकजनभी जगत्पूज्य कवीश्वरोंकी आत्मदर्पोक्ति पर वहुतही रीझते हैं। वे उन्हें वार वार पढ़ते हैं पर कभी तृप्तही नहीं होते; जव २ उन्हें पढ़ते हैं तव २ अधिकाधिक तन्मय होते जाते है।

(९) यहांलों यह वात दिखलाई गई कि मनुष्यका यथार्थ गुणोंके लिये अभिमान मानना दूषित नहीं है। इस लेखका यह एक भेद हुआ। इसके सिवा गर्वके और भी कई भेद हैं कि जो अदोष स्वरूप मानेजाते है जैसे स्वाभिमान, कुलाभिमान, जातिका अभिमान, देशाभिमान आदि इनकी यथेष्ट विवेचना यहां स्थानाभावके कारण नहीं होसकती। फिर कभी अवकाश मिलनेपर इसके विषय में स्वतन्त्ररूपसे आलोचना की जायगी। अव अन्तमें इस विषय पर और कुछ थोडे विचार प्रदर्शितकर इस लेखको शेष करते हैं

(१०) इसी निवन्धके आदिमें हम यह वात दिखलाही चुके हैं कि परमेश्वरने मनुष्यमें जो भिन्न २ वृत्ति निर्मित की हैं वे व्यर्थ वा अनर्थमूलक नहीं है; किन्तु अपर शरीरावयवकी नाई वे मनुष्य का हित साधन में सहायकहों इसी अभिप्रायसे वे मनुष्यको दीगई हैं। पर कभी २ यहभी देखाजाता है कि मनुष्यकी अविवेकताके कारण वह उसके हितकी वाधक होतीहै। यही वात वर्तमान आलोच्य विषयके विषयमें भी चरितार्थ होती है। जैसे उचित समय पर मनुष्यको क्रोध अत्यन्त आवश्यकहै—अर्थात् जिस समय कोई मनुष्य योंही किसीकी छेड़छाड़ करे वा व्यर्थमें उसे किसी प्रकार की हानि पहुँचानेकी चेष्टा करे, उससमय उक्त मनुष्यको उक्त नराधम, दुष्टात्मा, नीचचेताका दमन अवश्यमेव करना चाहिये। वैसे ही वुद्धिमान् मनुष्यके लिये यह भी उचितहै कि जो नरपिशाच उसकी सच्ची योग्यताको सर्वसाधारणमें कलङ्कित करनेके लिये यत्न करताहै उसके साथ उसे साभिमानही रहना चाहिये। ऐसे समय पर सरलस्वभाव सज्जनको यही समुचितहै कि वह अपनी

बुद्धिसे पूर्ण काम ले, और अपनी ऋजुताको तिलाञ्जलि दे उक्त संहाररहित ‡ शठको पददलित करे । ऐसे समय पर शिथिलता करनेसे कभी कभी सज्जनको जो हानि उठाना पडती है वह मरणजन्य दुःखसे कहीं वढके होती है ।

उक्त लम्बे चौडे विवरणका आशय हमारे यथार्थविद् पाठकों को लक्षित होहीचुका होगा वह यही है कि जव कोई किसीको व्यर्थमें दवाया चाहे तव उसे उचित है कि उसके अज्ञान एव दुराग्रहजन्य दूषणोंका खण्डनकर अपनी साभिमान रक्षा करे । एसा करनेसे उसकी निजकी भलाई तो होवेहीगी पर इसके सिवा जग के और भी वडे २ उपकार होंगे ।

सारांश उक्त मनोधर्म मनुष्यके लिये परमोपयोगी है । उक्त मनोधर्मका अस्तित्व जिस मनुष्यमें नहीं रहता वह मत्सरी एवं द्वेष करनेवाले मनुष्यके कपट कार्यकलापोंको देख शीघ्रही गतधैर्य होजाता है और अन्तमें उसे अपने समस्त गुणोंसे हाथ धो वैठना पडता है । एतावता 'नीतिशतक में' पूर्णानुभवी भर्तृहरीजी लिखते हैं कि :-

कदर्थितस्यापि च धैर्यवृत्तेर्न शक्यते धैर्यगुणः प्रमार्ष्टुम् ।
अधोमुखस्यापि कृतस्य वह्नेर्नाधः शिखा याति कदाचिदेव ॥

'जिसका मानस गम्भीर है उसका लोग कैसेही अपमान क्यों न करें पर वह अपने प्रकृतिजात धैर्यगुण का कदापि परित्याग नहीं करता । जैसे प्रज्वलित अग्निको उलटादो तौभी उसकी ज्वाला ऊपरहीको रहती है नीचे नहीं जाती ।

‡ ससार का पूर्ण अनुभव लेकर महर्षि भर्तृहरिजी ने कहा है कि जगत् में सब प्रकार के मनुष्य के लिये सज्ञा प्रचलित हैं पर जो अधमाधम निष्प्रयोजन दूसरे को हानि पहुँचानाही अपने जन्म का प्रधान अभिप्राय समझता है उसके लिये कोई सज्ञा उपलब्ध नहीं होती वह मर्यादारहितही है "ये तु घ्नन्ति निरर्थकं परहितं ते के न जानीमहे" ॥

सम्पत्तिका उपभोग।

अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्। *

शंकराचार्य।

इस विषयके सम्बन्धसे हमलोगोंमें, विशेषकर पुरानी मण्डली के लोगोंमें, बड़े विलक्षण मत मतान्तर पाये जाते हैं। कई पीढ़ी बीतगई पर यह मत निष्कम्प चलाआता है इसका कारण विचार करनेकी शिथिलता बोध होती है। पर अब ऐसा समय आगया है कि विचारकर उसकी सत्यासत्यता निश्चितही होजानी चाहिये। एतावता इस विषयके सम्बन्धसे हमारे जो विचार हैं वे नीचे प्रकाशित किये जाते हैं।

(२) अर्थशास्त्रका प्रादुर्भाव हो जबसे उसका युरोप महादेश में सर्वत्र प्रचार हुआ तबसे इस विषयके सम्बन्धसे सर्वसाधारण की सम्मति बिलकुल परिवर्तित होगई है। प्राचीनकालमें बड़े २ ज्ञानी ध्यानी कहानेवाले लोग जैसे सदा उसे तिरस्कृत दृष्टिसे देखा करते थे; और अनुमान गत शताब्दीपर्यन्त वह अनर्थका कारण मानी जाकर समस्त जातिके अत्यन्त हानिका हेतु समझी जाती थी, वैसेही संप्रति संपत्तिके विषयमें लोगोंके विचार उक्त विचारकलापोंकी अपेक्षा विपरीत रूप धारण कररहे हैं। अब लोग यह मानने लगे हैं कि समस्त सुख और समाधानका परम स्थान संपत्तिही है, उसका लोभ निन्द्य नहीं है प्रत्युत उसका प्रेम परम प्रतिष्ठा एवं गौरवका कारण है; अब इधर लोगोंका ऐसाही कुछ सिद्धान्त होगयासा दीखपड़ता है! साराश आज पर्यन्त धनके विषयमें लोगों के इतने मत मतान्तर हुए। इस लेख में यह निर्धारित कियाजायगा कि उक्त सब मत यथार्थ हैं और

* इसका अर्थ आगे चलकर लिखाही गया है॥

साथही यह भी दिखलाया जायगा कि वे सब अयथार्थ भी हैं।

(२) अब प्रथमतः प्राचीन मतकी आलोचना की जाती है। प्रायः सब देशके महान् २ ज्ञानी एवं विवेकीलोगोंका प्राचीनकाल में यह मत था कि संपत्ति समस्त आपत्ति और अनिष्टका कारण है। धनवान् पुरुषको इसलोकमें धनके कारण सदा परिश्रम, चिन्ता और दुर्बलतादि आपत्तियोंका लक्ष्य बनना पडताहै; और इससे अधिकतर भयावह बात यह है कि अर्थोपार्जनार्थ और उसकी सहायतासे जो घोर पाप किये जाते हैं वे सब परलोकमें उसके अनन्तकालतों नरक स्थितिके कारण होतेहैं। अभिप्राय यहहै कि सुखकी आशामें लिप्तहो मनुष्य धनके लिये जो आंख मूंदकर भले बुरे सब काम करते जाताहै वह उसे कुछभी नहीं प्राप्त होता किन्तु उसे व्यर्थमें परिश्रान्तहो संतोष सुखसे हाथ धो बैठना पडता है; और इसके अतिरिक्त परमार्थको बडीही हानि पहुँचती है। यही कारणहै कि प्राचीन तत्त्ववेत्तागण धन पर बडा कटाक्ष किया करते थे; और साथही दरिद्रता और संतोषमें जो सुखहै उसका अत्यन्त उत्कण्ठापूर्वक उपदेश किया करते थे। हमारे आचार्य 'मोहमुद्गर' के आरम्भमेंही यह उपदेश करते हैंः-

मूढ जहीहि धनागमतृष्णां कुरु तनुबुद्धे मनसि वितृष्णाम्।
यल्लभसे निजकर्मोपात्तं वित्तं तेन विनोदय चित्तम्॥
अर्थमनर्थं भावय नित्यं नास्ति ततः सुखलेशः सत्यम्।
पुत्रादपि धनभाजां भीतिः सर्वत्रैषा कथिता नीतिः॥

"रे मूढ़! इस धनतृष्णाको छोड। रे अबोध! मनमें संतोष-रूप समाधान वृत्तिको धारणकर। पूर्वकर्मानुसार तुझे जो मिल जाय उसीमें आनन्द मानाकर।

"इस अर्थको सदा अनर्थका कारणही जानाकर। उससे

यथार्थ सुख अणुमात्रभी प्राप्त न होगा। विचारनेकी बातहै कि धनवान् पुरुषको जब निजके पुत्रसे भी भयभीत रहना पडताहै; तब अन्यकी बातही क्याहै ? अतः इस उपदेशको चित्तमें भलीभांति धारणकर; ज्ञानीलोगोंने आजपर्यन्त सबको यही उपदेश कियाहै।"

ऐसेही और भी उपदेश कई संस्कृत एवं भाषाकाव्यमें पाये जाते हैं। धनको तुच्छ माननेवाले लोग ग्रीक और रोमन लोगोंमें भी बहुत होगये हैं। उन सबमें साक्रेटीज् अग्रगण्य मानाजाताहै। इसकी समस्त आयु दरिद्रावस्थामेंही बीती। एकबार एक विभवशाली भद्रपुरुषके अटूट विभव तथा बडे समारोहको देख इसने कहा कि मुझे जिनकी आवश्यकता नही है, और जिनके बिना मेरा कार्य सुखेन संपादित होते रहताहै ऐसी वस्तु यहा बहुत दीख पडती हैं। दूसरी बार ऐसेही प्रसंगपर उसने कहा-"मैं इन लक्ष्मी कृपापात्र पुरुषोंकी अपेक्षा कहीं बढकर सुखी हूं। इस अतुल विभाकी संभाल करनेके लिये इन्हें कितनेन कष्ट उठाने पडते होंगे, कितनीन चिन्ता करनी पड़ती होगी।" अस्तुः तौ उक्त प्रतिपादन द्वारा पुराकालीन ज्ञानवान् पुरुषोंकी एतद्विषयक सम्मतिका अनुमान तत्क्षण होसकताहै।

अब उक्त मतकी यथार्थता और अयथार्थता प्रदर्शित करनेके लिये विशेष परिश्रम और प्रयासकी कोई आवश्यकता नहीं है। वह यथार्थ इसलिये माना जा सकताहै कि धनके उक्त अनर्थ ऐसे हैं जो सर्व साधारणपर उत्तमतया प्रकटहै—अर्थात् धनप्राप्तिके योग से मनुष्य मदान्ध होजाताहै, उसे भिन्न २ प्रकारके दुर्गुण सूझने लगते हैं। व्यसनाभिभूत होकर वह अनन्वित कार्य करने लगता है, यह सब बातें ऐसी है जो सर्वसाधारणके दृष्टिपथमें सदा आती ही रहती हैं। धनशाली पुरुषोंके दुराचार और गृहछिद्रोंको उनके

नेकटस्थ पडोसीलोग पूर्णरूपसे जानते हैं । उनकी सहायतासे
नमाने काम होसकते हैं, अनेक प्रकारके दुष्कर्म निधडक किये जा
सकते हैं । और अवसर उपस्थित होजानेपर शासनकर्ता और डा-
क्टर साहबकी मूठभी गरम करदी जा सकती है क्या यह सब
बातें किसीसे छिपी है ? क्या इन सब अनर्थोंका कारण धन नहीं
है ? अपनी लालसा पूर्ण करनेके हेतु जो दूसरे लोगोंको इतने कष्ट
देताहै कहो वह धनशाली तौभी कुछ सुखानुभव करताहो सो हो
सके सकताहै ? हम अतुल और असंख्य विभवके स्वामीहैं, सहस्रों
परिचारक आज्ञा पानेके लिये मुंहकी ओर निहारते रहते हैं, जिस
पदार्थकी जब इच्छाहो प्राप्त होसकताहै । इच्छाके लिये कहीं कुछ
बाधा नहीं है; इतनी सामग्री उपस्थित होनेपर भी ऐसे कितने म-
नुष्य पाये जा सकते हैं कि जो यह समझतेहों कि हमारे कैसा सुख
और शान्ति किसे प्राप्तहै ? क्या हमें अणुमात्रभी दुःखहै ? क्या हमें
लेशमात्रभी चिन्ताहै ? बलिहारी है धनकी ! उसकी अधिकताके
साथही साथ हम आनन्दसागरमें मग्न होतेगये ! खेद वे लोग यदि
ऐसा कहसकते तो और चाहनाही क्या था ? जिन लोगोंको अ-
पनी यथार्थ अवस्थाका बोध नहीं है वे अबोधलोग अपनी अवस्था
को ऐसीही मानते हैं; पर इससे लाभही क्या ? दूरके ढोल सोहा-
वनेही जान पडते हैं । अन्तरस्थ बातके विषयमें जो किंचित् विचार
करेगा उसे तुरन्तही ज्ञात होजायगा कि खेतमें रात दिन परिश्रम
करनेवाले कृषकको भी उनके संपत्तिकी स्पर्धा न करनी चाहिये !
सदा रुजग्रसित, तज्जन्य शारीरिक दुर्बलता, उद्योग न रहनेके
कारण शरीरावयवोंका शिथिल होना, मनका ऊबजाना, सुखोप-
भोगके नित्य सेवनसे उकताना, मनोरञ्जनका अन्य साधन न होने
के कारण व्यसनासक्त होना, उसके फलरूपसे शरीर और मनको

अस्वस्थताका प्राप्त होना, वैसेही सदा कलह और भय आदि का बां रहना, आदि यही सब धनशालिताके सुखहै ! सारांश यह सब जान बूझकरभी मूर्खके सिवाय धनागमकी तृष्णा, अन्य कौन करेगा !

(४) परन्तु उक्त निरूपण केवल एकदेशीयहै । धन सचमुच में उक्त महान् २ अनर्थोंका कारणहै, पर साथही यह भी कहना पडताहै कि उसकी सहायतासे बडे २ काम सिद्ध होते है । केवल व्यक्तिगतही विचार कियाजाय तो जानपडेगा कि वह दरिद्रताकी नानाविध यन्त्रणाओंसे मनुष्यका उद्धार करताहै । यही क्या कुछ छोटा लाभहै ? मनुष्य कैसाही परमतत्त्ववेत्ता क्यों न हो, पर क्षुधा शान्तिके उपायकी शरण लिये विना उसका काम नहीं चलता वैसे ही शीत आतप वायु और पावस वेदान्तके अनुरोधसे तन्निष्ठ मनुष्यको क्षणमात्रके लिये भी क्षमा करतेहो सो बातभी नहीं दीख पड़ती ! तो ऐसी अवस्थामें, जीवनके लिये अत्यन्त आवश्यक जो अन्न, वस्त्र, गृह आदि सो जिसकी सहायतासे हमें प्राप्त होते है, और जिसके कारण वे सब पदार्थ उत्तरोत्तर अधिकाधिक अनुकूल होते जातेहै, उसके संग्रहको हम व्यर्थ कैसे कहसकते है ! इसके सिवाय दरिद्रपुरुषका कहीं मान सन्मान नहीं होता. सब लोग उसे तुच्छ मानतेहैं, धनाढ्य लोग उस पर बलात् अत्याचार करसकते है कि जिसकी कही सुनाई तक नहीं होती, वह कैसाही गुणी क्यों न हो उसके समस्तगुण लुप्तसे होजाते है; नीचजनोंके संसर्ग और धनके लालचसे उसका चित्त चोरी आदि दुर्गुणोंकी ओर संलग्न होने लगताहै; क्या यह सब थोडे अनर्थ हैं ? वैसेही परोपकारादि परमार्थसाधन धनके सिवाय वैसी उत्तमताके साथ नहीं बनपडते । पाठक ! विचारका स्थलहै कि ऊपर दुर्बलता, दुराचारप्रवृत्ति आदि जो अनर्थ उल्लिखित हुए है उनका सम्पत्ति से कार्य कारणरूप

सम्बन्ध नित्यताके साथ रहताहै वा अन्यथा ? हम समझते हैं उनका ऐसा कोई सम्बन्ध नहीं है । बड़े २ राज करनेपरभी उक्त विकारों से मुक्त रहे हैं ऐसे पुरुषोंके उदाहरण इतिहासमें बहुत पाये जाते हैं; और तो क्या पर, हमारे इतिहासमें, कि जिसका हमें बहुतही थोडा ज्ञानहै, ऐसे पुरुषरत्न उपलब्ध होते है ! साराश ऊपर धन जैसे अनर्थका हेतु कहागया वैसेही उससे लाभ भी होते है।

(४) उभयपक्षके साधक बाधक विचार ऊपर प्रदर्शित हो चुके, मनन करनेसे विज्ञ मनुष्यको ज्ञात होजायगा कि मनुष्यकृत कार्योंका दोष बापुरी सम्पत्तिपर अर्पित करना सर्वथा अयोग्य एवं अनुचितहै । उत्तम शस्त्रको उचित स्थानपर काममें लाना वा तद्द्वारा अनर्थ कर हाहाकार उपजाना जैसे सर्वथा उसके स्वामी के आधीनहै वैसीही बात सम्पत्तिकी भी है । अग्निका उदाहरण और भी लीजिये । उसे अपने आधीन रख यदि यथोचित रीति से उससे काम लियाजावे तो उससे पाकसिद्धि, प्रकाश प्रभृति अनेक कार्य सिद्ध होते है; पर यदि वही तृणपुञ्जमें डाल दियाजावे, वा घरपर रख दिया जावे तो जो अनर्थ होगा उसे सबलोग जानते ही है ! उक्त दोनों उदाहरणोंमें शस्त्र और अग्निको मध्यस्थ मानना चाहिये । लाभ और हानि ये दोनों उनके हाथ नहीं है । वे केवल साधनहै और उन्हें जैसा साधक मिलजाताहै वैसाही फल वे देते हैं। इस नीतिसे संपत्तिकी प्रशंसा वा निन्दा दोनों व्यर्थ है ! तात्पर्य,

येन श्रियः संश्रयदोषरूढम्
स्वभावलोलेत्ययशः प्रमृष्टम् *

इस श्लोकमें कालिदासने श्री अर्थात् संपत्तिकी चञ्चलता के विषयमें जो कहाहै उसीको यदि हम उसकी अनर्थवाहकता की

* 'जिसने लक्ष्मी को अपने कोष में चिरस्थितकर उसके प्रकृति सुलभ दोष चञ्चलता को दूर कर दिया' साराश, जो कहाजाता है कि लक्ष्मी स्थिर नहीं रहती सो यह उसका दोष नहा है, तो यह दोष उसका है जिसके पास से वह चली जाती है। वही यदि मतिमन्द वा दुर्बल हो तो विचारी लक्ष्मी क्या करे ?

ओर घटितकरें तो उक्त विवादका थोडेसे में ही निर्णय होजायगा

यहांलों व्यक्तिगत अर्थात् प्रति मनुष्यके सम्बन्धसे संपत्तिर आलोचना की गई। अब एक जातिके सम्बन्धसे मीमांसा कीजात है। अनुमान गत शताब्दीके अन्तपर्यन्त संपत्तिके विषयमें सबलोग की यह सम्मतिथी कि एकदेश वा जातिमें संपत्तिकी प्रचुरता हो ही उसके ह्रासका प्रारम्भ होजाताहै। जिस प्रमाणसे धनकी वृद्धि होती जाती है ठीक उसी प्रमाणसे उसके साथ २ विलास और विषयप्रियताभी बढ़ती जाती है। यह जैसी २ वृद्धि लाभ करते जाती है वैसे २ लोग हीन क्षीण एवं दुर्बल, वासनासक्त और अभिमानहीन होते जाते है। समस्त देश वा जाति उक्त अवस्थाको प्राप्त होतेही परचक्र द्वारा पददलित हो आत्मरक्षाके लिये असमर्थ होजाती है, और शीघ्रही वह परराज्य के आधीन होजाती है आजलों जो जाति उन्नतावस्थाको प्राप्त हुई उन सबकी अन्तमें ऐसीही अवस्था हुई, और सबके अवनतिकी नीव धनसमृद्धिद्वारा ही डालीगई। अस्तु; तो उनलोगोंका कथन इस प्रकारकाहै। अब विचारांश करनेसे यह भी उक्त कथनानुसार कुछ अंशमें सत्य प्रतीत होताहै; क्योंकि संपत्तिकी अधिकताके कारण उक्त अनिष्ट परिणामोंका होना बहुतांशमें प्रकृतिसुलभही जान पडताहै। संपत्ति एक प्रकारका मदही है; वह अपना गुण दिखलाये विना बहुधा छोडती नहीं। संस्कृतमें एक कहनूतहै, 'ऋद्धिश्चित्तविकारिणी' अर्थात् 'धनकी विपुलता चित्तको विकृत करनेवाली है'। परन्तु जो चतुरहै वह जैसे धनसे मदान्ध नहीं होता वैसेही जिस जातिकी शासनप्रणाली तथा राज्यनीति उत्कृष्टहै उसके लिये धन की प्रचुरता अवनतिका कारण न होकर उलटी उसे अधिकतर, उन्नति पहुँचाती है। इसके उदाहरण स्वरूपमें अब इंगरके इंग्लैण्ड,

फ्रान्स और प्रशियादि राज्योंका नामोल्लेख हो सकताहै । प्राचीन कालके रोमकार्थेज प्रभृति राज्यभी इसीप्रकारके थे । रोमराज्य की नींव इतनी सुदृढथी कि दो सहस्र वर्षलों उसकी स्थिति रही; और उसमें सम्पत्तिका प्रवेशहो वह उसका मायका बनजाने पर भी कई शताब्दी पर्यन्त शत्रुगण उसकी छाह तक नहीं छू पाये। और कार्थेजकी बात तो रोमसे भी बढकरहै । जिस सम्पत्तिको सम्प्रति राज्यको हानि पहुँचानेवाली कहरहे हैं उसी सम्पत्ति के बलसे कार्थेजका राज्य बलवान् हुआथा; और उसके योगसे वह हतवीर्य न हो रोम कैसे रणकुशलराज्यसे सामना कर उसे रसातलमें पहुँचानेको तृणमात्रकी उसने कसर नहीं रक्खी थी । भला, यदि यह कहाजाय कि अन्तमें वह धन विपुलताके कारण दुर्बल होगयाहो सोभी नहीं है । उसकी अन्तस्थ रचना इतनी उत्तमथी कि आदिमें उसमें जो शक्ति और हियावथा वह अन्तलों वैसाही बनारहा । अन्तिम समय उपस्थित होतेतक वहांके लोग जिस सराहनीय साहससे रोमनलोगोंके साथ लडतेथे सो इतिहास जाननेवाले लोगोंसे छिपा नहीं है । इस निरूपणसे यह स्पष्टतया निर्धारित होता है कि राज्यकी अवनतिका दोष सर्वथा सम्पत्ति परही स्थापित करना युक्तिसंगत नहीं है । अब इसके विपक्षके विषयमें विचाराश करना चाहिये कि जहां सम्पत्तिकी हवा तक लोगोंको नहीं लगी वा लगने दीगई वहाकी अवस्था कैसीथी । सृष्टिके प्रारम्भसे आजपर्यन्त सम्पत्ति किस चिड़ियाका नाम है सो अभीलों नहीं जाना ऐसे देश इस धरती पर बहुत है। आफ्रिकाके बहुतेरे देश, वैसेही कुछ अमेरिकाके देश, पासिफिक महासागर के कतिपय द्वीपादिके लोग अद्यावधि संसारकी आद्यावस्थामेंही है । भला, तो फिर दरिद्रताकी सहायतासे उनमें बडे सम्राट् वा

छोटे रजवाडे कितनेक हुए सो ठीक २ नहीं जाना जासकता ! इसके सिवाय दूसरा उदाहरण स्पार्टनके लोगोंका कहा जासकता है । इन लोगोंका राज्य स्थापित करनेवाले सुप्रसिद्ध लायकर्गने इन लोगोंको सम्पत्तिका परिचय न होने पावे इसी अभिप्रायसे वडे कडे आइन वना रक्खेथे; और प्रायः अन्तलों वे उत्तमतया काममें लाये जातेरहे । भला, फिर इसका परिणाम क्या हुआ ? स्पार्टनलोगोंने कुछ दिनलों ग्रीसदेशका शासन किया सही; पर विना उतने परिश्रम उठाये आथिनियन, थीवन, मासोडोनियन, लोगोंने भी उनकी अपेक्षा अधिक काललों शासन किया ! भला यह सब जाने दीजिये आगे जब रोमन लोगोंने समूचा ग्रीस देश अपने अधिकारमें करलिया, तब सम्पत्तिके योगसे जो अशक्त नहीं हुआ था सो इन लोगोंका वीर्य कहागयाथा ? साराश सम्पत्तिकी विपुलताका सम्राट् वा राज्यकी उन्नति वा अवनतिका कारण होना सम्राट् वा राज्यकी दृढ़ता पर निर्भरहै; और यही कारणहै कि उनके नष्ट होनेका कलङ्क सम्पत्तिको लगाना युक्तियुक्त नहीं जान पडता ।

(७) यहांलों पहले दो मतोंकी मीमांसा होचुकी । अब तीसरे में कितना तथ्यांश है सो देखना चाहिये । यह मत आज कलकी नूतन मण्डलीका है । इनलोगोंके मनकी अवस्थाके विषयमें यदि सूक्ष्मरूपसे विचार कियाजाय तो तुरन्तही लक्षित होजायगा कि, सम्प्रति उसने वडा विलक्षणरूप धारण किया है । पुराने विचार और पुराने मत अब किसी कामके नहीं रहे अतः उनका अनुवादन करना उन्हें उचित नहीं जान पडता । भला सर्वथा नये मत ही ग्रहण करलिये जायँ तो वैसा करनाभी अभी समुचित नहीं माना जाता । यही कारण है कि दोनोंके वीचमें लटकना उन्हें प्राप्त हुआ है । पुराना जो कुछ है सो सब पागलपन और कम

समझका है; पाश्चात्यलोगोंके सम्बन्धका जो २ हो सो सब चतुरतापूरित अतः आदरणीयहै, ऐसीही कुछ २ उनकी कल्पना होगईसी दीखपडती है। पर एक उत्तम क्यों और दूसरा निकृष्ट क्यों वा वे यथार्थ में भले हैं, वा बुरे है वा नहीं यह जो उनसे पूछा जाय तो, सुनहरी सिकड़ीकी घडी गलेमें लटकाना अच्छा क्यों दीखपडताहै वा देशी जूता छोडकर विलायती बूट पहिरने में लाभहै इसके कारण वे जैसे बतासकेंगे वैसेही उक्त प्रश्नके भी उत्तर देंगे! अस्तु; तौ इन लोगोंका ऐसा कुछ विचार होगयासा जानपडताहै कि आजपर्यन्त पुरानेलोगोंकी धनसञ्चयके विषयमें जो निषेधात्मक सम्मतिथीं उन्हें सर्वथा झूठ निश्चितकर धन सञ्चय करनाही मनुष्यका परमकर्तव्य कार्य है। हम अभी पीछे कहीचुके हैं कि धनके सिवाय न तो मनुष्यका निर्वाहही सुगमतया होसकता है और न उसे सुख शान्तिकाही लाभ होताहै इसीलिये वह अवश्य संग्रहणीयहै। पर उसे सुख एवं शान्तिका परमसाधन मान उसके लिये अत्यन्त प्रेम प्रकट करना सुतरां उसके लिये नितान्त लोलुप होजाना कृपण जैसे नीच मनुष्यकोही योग्यहै! तात्पर्य यह है कि सम्पत्ति यद्यपि सुखका साधनहै तथापि इसमें कोई संदेह नहीं कि उसके लिये अनिवार्य तृष्णा उत्पन्न होतेलो उसका लोभ न छोडना परमदुःखका कारणहै, और साथही यह भी स्पष्टहै कि ऐसे पुरुषसे उसका किसी प्रकारसे स्वहितार्थ वा परहितार्थके लिये विनियोग न हो पावेगा, सम्पत्ति यह केवल साधनहै, साध्य अर्थात् उपभोग्य वस्तु नहीं है, इतनाभी जो नहीं समझ सकता उससे बढके मूर्ख और हतभाग्य कौन हो सकताहै?

(८) यहालों अकेली संपत्तिके सम्बन्धसे सामान्यतः आलोचना हुई। अब इस लेखका प्रधान विषय जो संपत्तिका उपभोग उसके विषयमें लिखते हैं।

(९) संपत्ति सबको अभीष्टहै, और प्रायः सभी उसकी प्राप्ति के उद्योगमें लगे रहा करतेहैं सो सबलोग जानतेही हैं। साथहं यह बातभी सबलोग जानते हैं कि उसके प्राप्त्यर्थ जो संतत परिश्रम करना पडते है उनका हेतु यही है कि उससे हमें सुख प्राप्त हो। अब यहा पर इतनाही विचार कर्तव्यहै कि संपत्ति प्राप्त होने पर भी ऐसे कितने जन होंगे कि जिनकी सुखलाभकी इच्छा सफल होती है।

(१०) इस संपत्ति सुखके विषयमें भिन्न २ मनुष्योंकी भिन्न २ संमति पाई जाती है। प्रथमतः कृपणाचार्य। यह अपने नामके अनुरूप संपत्तिपर परम 'कृपालुता' बनाये रखते है। इन्हें उसका लवमात्रका वियोग असह्य होता है। कवडी २ और पैसा २ जोड कर वे अपने देवताकी ऐसी सेवा करतेहैं कि उनके संग्रहके लिये उपमा ढूंढ़नेमें कविकी मति पंगु होजाती है। इस असामान्य भक्तिके उपहासार्थ कहने सुननेके लिये कथा कहानी या कहनूत जिस देशमें न होगी ऐसा देश समस्त भूमण्डल पर एक भी न होगा। यदि यह मान लिया जाय कि किसी एक गोलके मनुष्यने अपनी पृथ्वी पर आकर कुछ दिन निवास किया तो निःसंदेह उसे कृपणकी कृति देख आश्चर्यचकित होना पड़ेगा! संतत कष्ट उठाकर संग्रह करना, सदा प्राणपणसे उसकी रक्षा करना, और उससे लाभ उठानेकी कल्पना तक न सहन होना! इस पागलपनको देख वह क्या कहेगा? वह सुनिश्चयरूपसे यही जानेगा कि इसे किसीका तोभी शापहै; यदि ऐसा न होता तो यह जान बूझकर ऐसा प्रमाद क्यों करता!! सारांश इस मूढ़ अनुकम्पनीय जनको संपत्तिका उपभोग केवल दर्शन द्वारा प्राप्त होता है। संपत्तिका उपभोग लेनेकी यह भी एक रीतिहै। यहांपर यह

हनेकी कोई आवश्यकता नहीं है कि उक्त उपभोग द्वारा सुखोत्पत्तिका इष्ट हेतु यथार्थ में सिद्ध नहीं हुआ। दूसरा प्रकार विषयवासना तृप्तिका मानाजाताहै। मनुष्यमात्रकी निसर्गतः इस ओरको प्रवृत्ति होने के कारण सम्पत्तिका व्यय इसी प्रकार से बहुत होताहै। पर यह यदि समर्याद हो तो इस में कुछ बुराई नहीं है। परमेश्वरने इस धरातल पर नाना प्रकार के सुखोपभोग के जो पदार्थ निर्मित किये हैं उनका उपभोग लेना सर्वथैव समुचित है, पर साथही इस बातपर भी ध्यान रहना चाहिये कि धर्म और नीति पर किसी प्रकार की बाधा वा आघात न पहुँचने पावे; हमारे शास्त्रप्रणेतृगणोंने इस विधान को तीसरे पुरुषार्थ का साधन कहा है। नेक विचाराश करनेसे जान पड़ता है कि जगन्नायक का सूत्रही ऐसा कुछ है। क्योंकि इन्द्रियजन्य सुख यावत् मर्यादाकलित रहतेहैं तावत्काल पर्यन्तही उनमें सुख की स्थिति पाई जाती है; उसके मर्यादोल्लङ्घितसे होतेही वह दुःखरूप होने लगते हैं। परन्तु मनुष्य निजकी मूर्खतावश कहो व उसके विशेष विषयासक्त होजाने के कारण कहो, इस इन्द्रियजन्य सुख को वह बहुधा अपने आधीन नहीं रखसकता, वह उनके वशमें यहांलों होजाता है कि अपने को भीषण आपत्तिग्रसित करलेताहै। सम्पत्तिका यथायोग्य उपभोग ले तद्द्वारा सुखी होनेवालों की अपेक्षा दुःखग्रसित होनेवालों की संख्याही अधिक पाई जाती है—अनुमान सौ में नव्वे दुःखी पायेजाते हैं कहना अनुचित न होगा, इसी कारण को प्रधानता दे प्राचीन विज्ञलोग उक्त प्रकारसे धनका निषेध किया करते थे। इस प्रतिपादन से विवेकी पाठक जान जायँगे कि यह दूसरा प्रकार भी प्रायः सुखावह नहीं होता।

(११) अब इन दोनों अपव्ययों के व्यतिरेक सम्पत्तिका उपभोग

लेनेके और कौनसे मार्ग हैं ? उनके विषयमें विचार प्रदर्शित किये जाते हैं । यहांपर पुरानेलोगों की कतिपय विलक्षण सम्मतियोंको विशेषरूपसे स्पष्ट करना अत्यावश्यक जान पडता है । उक्त दोनों दूषित मार्गों का अनुकरण न करने परभी बहुतेरे लोग अपने धन का व्यय बहुत अविवेकता के साथ करते हैं । यह दूषित मार्ग विलासप्रियता की अधिकता का है । अनुमान से जान पड़ता है कि हमलोगों ने यह विलासप्रियता मुसलमानोंसे सीखी है । इसके मतानुसार अक्रियताही सुखकी परम सीमा जान पड़ती है । जहां बैठने उठनेकी इच्छाहो गद्दी बालिश तैयारही है, कहीं जाने आनेकी इच्छा होतेही रथ, पीनस आदि प्रस्तुतही रहते हैं, वस्त्र पहराने ओढ़ाने और संभालनेके लिये भृत्यगण उपस्थितहीहैं स्नान करवाने के लिये, अङ्गमर्दन के लिये, हाथ धोवानेके लिये, जहा तहां परिचारकगण विद्यमानही है; इतने सेवकोंकी सेवाका स्वीकार करते२ जो परिश्रम होते हैं मानो उनकी निवृत्तिके लिये–निद्राके समय पनचप्पी पुनः करवानाही पडती है । यही धनशालिता के सुखों का नित्यक्रम रहता है । लोग सुखकी परमावधि इसेही मानते हैं । और कहांलों कहाजाय हमारी भाषामें अब 'सुखी' और 'धनवान्' ये दोनों शब्द पर्यायवाची मानेजानेलगे हैं; ये शब्द लोगोंके एतद्विषयक मतके समीचीन सूचक हैं । पुरानेलोगोंकी विभवशालिता के वर्णन प्रायः सबलोग सुनही चुके होंगे–'वाह साहब उनका क्या वेतो अमीरही है' 'घर के बाहर की धूप कैसी होती है सो तो उन्होंने कभी जानीही नहीं है' 'आजलों उनके पांव में कभी कंकर तक तो गडाही नहीं' 'पेटका पानी तक कभी हिला नहीं' इस प्रकार से उन्होंने विभव का उपभोग लिया है ! वाह बलिहारी है इस अपरम्पार सुखकी ! पर इसका परिणाम शीघ्रही किसप्रकार

ा हुआ करता था सो भी यहां उल्लिखित होना चाहिये। जब
ाड़ी घोड़े पीनस आदिसे ही वाहनोंका काम लिया जानेलगा,
व ईश्वर दत्तवाहनों की आवश्यकता ही क्या रही! ऐसी दशामें
र्वों को छुट्टी मिलना वाजवीही है। शरीर के आशयों को सदा
अन्न पचाने की आवश्यकता बनी रहती है पर चलाफिरी औ
परिश्रमके नाम से भोजनों के समय चौकीपर जा बैठने के लिये
जो परिश्रम उठाने पड़ते हों, और हाथ को पात्र से उठा मुंह तक
अन्न पहुँचाने में जो परिश्रम पड़तेहों वही केवल–ऐसी अवस्थामें
पकानों का अपने आश्रित वर्गोंको–भिन्न २ रोगोंको निमन्त्रित
करना उचितही है! इस प्रकार पंगु और रोगी बनजाने पर तो
फिर धनशालिता के विलास और भी बढ़जाते हैं। इसके पूर्व
केवल नौकर चाकरही सेवा टहल के लिये उपस्थित रहा करते;
पर अब उनमें वैद्यों कीभी आवश्यकता होगई। एक तो पहलेही
बाबू साहब का आहार बहुत स्वल्प था; फिर अब यह दशा प्राप्त
होने पर उसका कुछ हाल ही न पूछना चाहिये। इस प्रकार से
सन्ततचिकित्सा और उपचार प्रारम्भ होजानेपर अन्त में ऐसी
अवस्था प्राप्त होजाती है कि हिलना फिरना सब बन्द होजाता है।
हाय यह कैसी प्रचण्ड मूर्खता है! ईश्वरने हस्तपादादि जो अवयव
मनुष्य को दिये हैं वे इसी अभिप्राय से दिये हैं कि मनुष्य उन्हें
अपने आधीन रख दृढ़ करता रहे वैसा न कर पराधीन होजाना
मूर्खता तो है ही पर इस पराधीन होनेको भूषण मानना मूर्खता के
उच्चतम शिखर पर आसीन होनाही है। अक्रिय रहकर निश्चेष्ट
पड़े रहनाही यदि विभवशालिताका स्वरूपहै तो मनुष्यकी अन्त्या-
वस्था को यथार्थ स्वर्गस्थिति मानना अनुचित साहस न होगा।

(१२) यहांलों इस समझकी अविवेकताके विषयमेंही लिखा

गया। अव यह क्रियाशून्यता वास्तव में सुखदायक है वा उसके वैसे होनेका सम्भव तौ भी है वा नहीं इसके विषयमें विचार करते है। किसी कामकाज के न रहनेसे मनुष्य को कितनी देरलों सुख का अनुभव होता है इसका अनुभव वहुधा प्रत्येक मनुष्य को होवे हीगा। इसके उदाहरण स्वरूपमें तातील का उल्लेख ठीक होगा। एक सप्ताह पक्ष वा मास दो मासकी जब कभी तातील आपडती है तव विद्यार्थियों को पहले पहल महदानन्द जानपडता है। वे समझते है कि अव हमको इतने दिन यथेच्छ घरपर रहने को मिलेंगे और खेल कौतूहल देखने को बहुत समय मिलेगा। इस विचारमें पहले चार पाच दिन बहुत आनन्दसे वीतते हैं पर आगे शीघ्रही ऐसा जी ऊबनेलगता है कि शेषदिनों का वीतना बहुत गढाने लगताहै और अन्त अन्तमें तो इतना जी उकता जाताहै कि पुनः पाठशालामें जानेवाले दिन सबको उत्कण्ठा वोध होतीहै। इस बाल्यावस्था के अनुभव में सब सुख दुःखोंकी तालिका है! संसार में ऐसी कोई वस्तु नहींहै जो केवल सुखमय हो। सुखका अनुभव होनेके लिये दुःखानुभवकी विशेष आवश्यकता है। पेटमें जबलों भूक वनीहै तभीलों भोजनों के सुखका अनुभव रहताहै वैसेही जबलों प्यासहै तभीलों पानी पीनेका सुख, शीतहै तबलों उष्णता का सुख, और आतपहै तवलों शीतल उपचारोंका सुखानुभव होताहै। इसी प्रकार परिश्रम और विश्रामका द्वन्द्वभी परस्परमें सापेक्षहै। जबलों विश्राम का अनुभव विद्यमान रहता है तवलों परिश्रम सुखदायक जान पड़ता है, और जबलों परिश्रम का अनुभव रहता है तभीलों विराम का सुखवोध होताहै। यह सब यदि सत्य है तो विना उद्योग किये योंही सुखकी आशा करना, और विना परिश्रम किये विश्रान्ति सुख प्राप्त करने की लालसा करना, मेघरहित

आकाशसे जलवृष्टि की आशा करने कैसाही अयोग्य है। तृषार्तको जलसे सुख होता है, आतप से व्याकुल हुए मनुष्यको †, वृक्ष की छाया बहुत सुखप्रद बोध होती है अतः यदि कोई मनुष्य जलपान करने में सुख है इतनाही मानकर एकसा पानी पीता रहे, वा वृक्ष की छाया सुखप्रद होती है ऐसा समझकर सुखकी आशासे निरन्तर छाया में बैठारहे तो हमलोग उसे सिवा मूर्ख के और क्या कहेंगे ? तात्पर्य उक्त विभवशालिता की बात ठीक ऐसीही है। उक्त प्रतिपादन से यही प्रमाणित होता है कि बिना उद्योग के केवल अक्रियता सुखप्रद कदापि नहीं होसकती, हां दुःखप्रद अलबत्त होसकती है। कहो कैसे तो जैसे बिना विश्राम के सतत उद्योग अत्यन्त दुःख का कारण होता है वैसेही उसे भी जानना चाहिये। यही कारण है कि एक बडे विज्ञ एवं चतुर ग्रन्थकार ने कहा है कि "सदातनकी विश्रान्ति को लोग स्वर्ग का महान् सुख भलेही माना करें पर मैं तो उसे नरक की घोर यन्त्रणाओं में परिगणित करता हूं।"

(१३) इस प्रकार से अक्रियता कहांलों सुखका कारण हो सकती है सो ऊपर प्रदर्शित किया गया। पर इतनेही से अलम् न होगा। अक्रियता महान् अनर्थ का कारण है यह आगे के लेख से सिद्ध होगा। अंगरेजी में एक कहनूत है कि 'खाली घरको सैतान अपना कारखाना बनाता है' * इसका अर्थ यही है कि जब मनुष्य के लिये कोई काम नहीं रहता है तब उसे नाना प्रकार के कुमार्ग सूझते हैं। और ऐसा होना ठीकही है। क्योंकि मनुष्य के

† अतिशयातप जो व्याकुल होई। तर छाया सुख जानै सोई॥
— तुलसीदास।

* An idle brain is Satan's workshop.

शरीर के व्यापार जैसे कभी रुकते नहीं वैसेही उसके मन के भी एकसे चले जाते हैं । ईश्वर की योजनानुकूल मनुष्यमात्र के शारीरिक और मानसिक व्यापार सदा सञ्चालित रहते है क्योंकि विना परिश्रम आजीविका चरितार्थ नहीं होसकती अतः दोनों का क्रियाचक्र साथही साथ चला करता है । पर कुछ (जिन्हें लोग भाग्यवान् मानते हैं) लोग ऐसे भी हैं कि जिनकी आजीविका विना परिश्रमके ही निर्वाहित होती है । ऐसी अवस्था में उनके शरीर और मन को व्यापारशून्यही रहना पड़ता है । परन्तु मनकी अवस्था व्यापारशून्य कदापि नहीं रहसकती । यही कारण है कि नानाविध दोष और दुर्गुण उसे लगजाते हैं । और धन के सहारे उनका निर्वाहभी होते जाता है, और उसी प्रकार के लोग भी शीघ्रही उसके निकट एकत्रित होजाते हैं । इस प्रकार से एक बार मनुष्य की कुमार्गकी ओर जहां प्रवृत्ति होगई फिर क्या देखना है उसे निरन्तर उसीकी लय लगजाती है । किसी कविने कहा है:-

यौवनधनसंपत्तिः प्रभुत्वमविवेकता ।
एकैकमप्यनर्थाय किमु यत्र चतुष्टयम् ॥

"तारुण्य, धनाढ्यता, अधिकार और अविचार इस चौकड़ी में से एक एकही मनुष्य को नष्ट करने के लिये बस हैं; फिर चारो जहां मिलजाते हैं वहांका हालही क्या पूछना है ।" अतः ज्ञान सम्पन्न होने परभी जबलों मनुष्य की बुद्धि परिपक्व दशा को नहीं प्राप्त होती तबलों वह वनमें भलेही रहे परन्तप कभी न करसकेगा यही बात जानसन् ने अपने 'रासेलस' नामक उपन्यास में योगी की कथा के संबन्ध से सूचित की है; और 'शान्तिशतककार' भी यही कहते हैं:—

वनेषु दोषाः प्रभवन्ति रागिणां

गृहेपु पञ्चेन्द्रियनिग्रहस्तपः ।
अकुत्सिते कर्मणि यः प्रवर्तते
निवृत्तरागस्य गृहं तपोवनम् ॥

"जिनके मन में पूर्ण वैराग्य का संस्कार नहीं हुआ है उनसे वन में भी मानसिक दोष होते हैं; और जो घर परही रहकर इन्द्रिय-निग्रह करते हैं उन्हें वहाही तप का फल प्राप्त होता है। सारांश जो अनिन्द्य कर्मों का अनुष्ठान करता है और विषय लोभ से दूर रहता है उसे उसका घरही तपोवन के तुल्य है"। अभिप्राय यह है कि एकान्त स्थिति में भी मनको शुद्ध रखना बड़ा कठिन कार्य है, उसे नेक अवकाश के मिलतेही वह दुष्ट वासनाओं के वश हो जाताहै।-हमारे यहां धर्माचरण में कर्ममार्ग का जो इतना भारी घटाटोप विहित किया है उसका प्रधान हेतु यही है।

(१४) अब सम्पत्ति का एक उपभोग कहनेको और शेष रह गया है। वह धर्म है। इसे उपभोग कहना, सकृत् दर्शनद्वारा किंचित् विलक्षण जान पड़ेगा; पर उपभोग का अर्थ यदि 'सुख' इतनाही है, तो धर्मार्थ धन का व्यय करना भी उसका उपभोगही है। क्योंकि धर्म करनेवाले को उससे बहुत मनस्तुष्टि होती है। और यथार्थ में सम्पत्ति का सद्व्यय वही माना जाताहै जो परोपकारार्थ किया जाता है, एतावता उन महात्माओं के चित्त को अर्थ के सद्व्यय से जो सुखलाभ होता होगा उसके लिये इसके सिवा अन्य उपमा भी न फबेगी।

नाना प्रकार के भूषणों से शरीर को अलंकृत कर उसी में सन्तोष मानना यह प्राकृतजनों की संकीर्ण बुद्धि का फल है; सम्पत्ति के सुख का अनुभव केवल नेत्रद्वारा करना अत्यन्त मूढ और नीच कृपणका ही काम है; और धनका व्यय केवल स्वार्थ के लिये

और वह भी विषयोपभोगार्थ करना और उसकी सहायता से अनेकानेक दूषित काम करना आदि तो मानवजाति को कलङ्कित करनेवाले पशु और राक्षसों का काम है ? सज्जनलोग सम्पत्ति का व्यय बहुतही भिन्न प्रकारसे करते हैं। महर्षि भर्तृहरीजी कहते हैं–

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणापराणां, परोपकारैर्नतु चन्दनेन॥

"कर्ण सच्छास्त्र श्रवणद्वारा ही शोभा को प्राप्त होते हैं, कुण्डलों से नहीं; हाथ दान करने से शोभायुक्त होते हैं, कङ्कणों से नहीं; और जो दयाशील हैं उनके देह की शोभा परोपकार से है, कुछ चन्दन से नहीं है"। अब यह बात स्पष्टरूप से निर्धारित हो गई कि सम्पत्ति के उपभोग का यही मार्ग सर्वोपरि श्रेष्ठ है। पर सम्पत्ति का धर्मार्थ त्याग करने में एक बात की ओर विशेष ध्यान देना उचित है अर्थात् पात्रापात्र विचारपूर्वक दान देना चाहिये। जो पात्र को दिया जाता है वही सद्दान है; कुपात्र को देनेसे दाताको उलटे दोषी होना पडता है। अब इधर पात्रापात्रविषयक विचार पहले की अपेक्षा बहुत अच्छे हो गये हैं सो सबपर विदितही है। उनके विषय में विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस के पूर्व ब्राह्मणों को, विशेष कर पुरोहितों को दान देने में लोग पुण्य माना करते, पर अब सर्वसाधारण की यह उत्तम सम्मति हो गई है कि आपत्तिग्रसित मनुष्यमात्र दान के लिये एक से सत्पात्र हैं। पर अभीलों यह बात नहीं दीख पडती कि इस नये मतद्वारा धर्म की कुछ वृद्धि हुई वा पहले के इतनाही रहकर वह अपर श्रेष्ठ मार्ग का अनुकरण करनेलगा। जब महान् काल विकरालरूप धारणकर हजारों मनुष्यों को अपने गाल में रखना प्रारम्भ करता है तब तो कालपीडित लोग धर्म के अत्यन्तपात्र होते है न ! पर

धर्मविषयक सबके मत इतने सुधारसपन्न होनेपर भी यथार्थ दाता का पुण्य बहुतही थोड़े लोग प्राप्त करते हैं। इन बातों से यही मानपड़ता है कि हमारे नई रोशनी के बाबूलोग उतनेही सुधार का स्वीकार करते हैं जितना केवल पथ्य के उपयोग में आ सकता है। धर्म के सम्बन्धसे दूसरी एक यहभी बात ध्यानमें रखने योग्य है कि हाथ से बिलकुल पैसा न छूटने की अपेक्षा प्रशंसा के लोभ से धर्म होनाभी अच्छा है; पर वह यथार्थ धर्म नहीं माना जा सकता क्योंकि उतना परोपकार कीर्ति के लिये बेंच देने कैसाही है। वास्तवमें धर्म वहीहै कि जो करुणार्द्र अन्तःकरणसे निरपेक्षबुद्धिपूर्वक दिया जाता है; और वास्तवमें उसी से दाता को सुख प्राप्त होता है॥

(१५) यहांतों सम्पत्ति के भिन्न २ उपभोगों का निरूपणकर यह दिखलाया गया कि किस प्रकार के उपभोग से उपभोक्ता को कितना सुख मिलता है। अब उपसंहार में यही प्रार्थना है कि, विषयका सुख लेना हमही लोग जानते हैं इस मूर्खतागर्भित दुरभिमान को तिलाञ्जलि दे यदि हमारे राजे महाराजे और अपर लक्ष्मीकृपापात्र धनवान् लोग इसके सम्बन्धसे युरोपियन (गोरे) लोगोंका अनुकरण करें तो वह उन्हें अत्यन्त हितावह होगा। इस कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वे लोग धनका सदा सर्वत्र सद्व्ययही किया करते होंगे, वा जो वे करतेहैं वह सब उत्तमही रहता है। इस देशमें उन लोगों के जो आचरण दृष्टिपथ में आते हैं, उनसे यह सहजही अनुमान होता है कि, यहां कैसेही वहांभी मेमसाहब, बटलेर साहब आदिकी ही साहब पर प्रबलता रहती होगी, लकड़ा चमड़ा कपड़ा आदि का सामान खरीदनेमें ही बहुत से धन की आहुती दीजाती होगी, इसके सिवा मदिरादि का सेवन, व्यभिचार के स्थान में सुप्रसिद्ध बॉल नापका नाच प्रभृति

और वह भी विषयोपभोगार्थ करना और उसकी सहायता से अनेकानेक दूषित काम करना आदि तो मानवजाति को कलङ्कित करनेवाले पशु और राक्षसों का काम है ? सज्जनलोग सम्पत्ति का व्यय बहुतही भिन्न प्रकारसे करते हैं। महर्षि भर्तृहरीजी कहते हैं—

श्रोत्रं श्रुतेनैव न कुण्डलेन, दानेन पाणिर्नतु कङ्कणेन।
विभाति कायः करुणापराणां, परोपकारैर्नतु चन्दनेन॥

"कर्ण सच्छास्त्र श्रवणद्वारा ही शोभा को प्राप्त होते हैं, कुण्डलों से नहीं, हाथ दान करने से शोभायुक्त होते हैं, कङ्कणों से नहीं; और जो दयाशील है उनके देह की शोभा परोपकार से है, कुछ चन्दन से नहीं है"। अब यह बात स्पष्टरूप से निर्धारित हो गई कि सम्पत्ति के उपभोग का यही मार्ग सर्वोपरि श्रेष्ठ है। पर सम्पत्ति का धर्मार्थ त्याग करने में एक बात की ओर विशेष ध्यान देना उचित है अर्थात् पात्रापात्र विचारपूर्वक दान देना चाहिये। जो पात्र को दिया जाता है वही सद्दान है; कुपात्र को देनेसे दाताको उलटे दोषी होना पडता है। अब इधर पात्रापात्रविषयक विचार पहले की अपेक्षा बहुत अच्छे हो गये हैं सो सबपर विदितही हैं। उनके विषय में विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस के पूर्व ब्राह्मणों को, विशेष कर पुरोहितों को दान देने में लोग पुण्य माना करते, पर अब सर्वसाधारण की यह उत्तम सम्मति हो गई है कि आपत्तिग्रसित मनुष्यमात्र दान के लिये एक से सत्पात्र हैं। पर अभीलों यह बात नहीं दीख पडती कि इस नये मतद्वारा धर्म की कुछ वृद्धि हुई वा पहले के इतनाही रहकर वह अपर श्रेष्ठ मार्ग का अनुकरण करनेलगा। जब महान्काल विकरालरूप धारणकर हजारों मनुष्यों को अपने गाल में रखना प्रारम्भ करता है तब तो कालपीडित लोग धर्म के अत्यन्तपात्र होते हैं न ! पर

र्मविषयक सबके मत इतने सुधारसंपन्न होनेपरभी यथार्थ दाता
का पुण्य बहुतही थोड़े लोग प्राप्त करते है । इन बातों से यही
मालूम पड़ता है कि हमारे नई रोशनी के बाबूलोग उतनेही सुधार
का स्वीकार करते है जितना केवल पथ्य के उपयोग में आ सकता
है। धर्म के सम्बन्धसे दूसरी एक यहभी बात ध्यानमें रखने योग्य
है कि हाथ से बिलकुल पैसा न छूटने की अपेक्षा प्रशंसा के लोभ
से धर्म होनाभी अच्छा है, पर वह यथार्थ धर्म नहीं माना जा
सकता क्योंकि उतना परोपकार कीर्ति के लिये बेंच देने कैसाही है।
वास्तवमें धर्म वहीहै कि जो करुणार्द्र अन्तःकरणसे निरपेक्षबुद्धिपूर्वक
दिया जाता है; और वास्तवमें उसीसे दाता को सुख प्राप्त होता है ॥

(१५) यहांलों सम्पत्ति के भिन्न २ उपभोगों का निरूपणकर
यह दिखलाया गया कि किस प्रकार के उपभोग से उपभोक्ता को
कितना सुख मिलता है। अब उपसंहार में यही प्रार्थना है कि, वि-
भवका सुख लेना हमही लोग जानते है इस मूर्खतागर्भित दुरभि-
मान को तिलाञ्जलि दे यदि हमारे राजे महाराजे और अपर
लक्ष्मीकृपापात्र धनवान् लोग इसके सम्बन्धसे युरोपियन (गोरे)
लोगोंका अनुकरण करें तो वह उन्हें अत्यन्त हितावह होगा। इस
कथन का यह अभिप्राय कदापि नहीं है कि वे लोग धनका सदा
सर्वत्र सद्व्ययही किया करते होंगे, वा जो वे करतेहै वह सब
उत्तमही रहता है। इस देशमें उन लोगोंके जो आचरण दृष्टिपथ
में आते है, उनसे यह सहजही अनुमान होता है कि, यहा कैसेही
वहांभी मेमसाहब, बुटलेर साहब आदिकी ही साहब पर मवलता
रहती होगी, लकड़ा चमड़ा कपड़ा आदि का सामान खरीदनेमे ही
बहुत से धन की आहुती दीजाती होगी, इसके सिवा मदिरादि का
सेवन, व्यभिचार के स्थान में सुप्रसिद्ध बॉल नामका नाच प्रभृति

मूर्खता की और भी अनेक बातें प्रचलित होंगी । वैसेही यहांके आचरणों से काल के समय की इनलोगों की दानशूरतादिका भी अनुमान करलेना चाहिये । इस विषय में हम और न कहकर यही कहते हैं कि उनलोगों के जितने ग्रहण करने योग्य गुण हैं वे अवश्य ग्रहण करने चाहिये । गद्दी पर तकिया लगाकर बैठने, व इधर का तिनका उधर उठाकर न रखने में प्रतिष्ठा न मान उनके समान हमारे उक्तलोगों को देशाटनादि परिश्रम के काम करने चाहिये । उसी प्रकार से अक्षरशत्रु और सदा क्रियाशून्य रहने में श्रेष्ठता और भूषण न मान उनके सदृश विद्यानिपुण हो संसारमें कीर्तिको चिरस्थित करने के लिये प्रयत्नवान् होना चाहिये । दानशूरता के विषय में उन्हें हमारे पारसीदेशभाइयों को अनुकरण करना समुचित है । बडे भयावने काल में हमारे देशने उनके धर्म और जीवनकी रक्षाकी उसके लिये वे जो कृतज्ञता प्रकाशित करते हैं सो सबपर विदितही हैं । हम यहां यह लिखना समुचित समझते हैं कि उन लोगों के अभिमान का स्थल वा मान व जातिका भूषण रूप जो महात्मा उनके यहां होगया है उसको हमारे धनी मानी लोग अनुकृतकरैं । सारांश इस प्रकार से यदि हमारे लोग अपने आचरणों को सुधारेंगे तो संभव है कि हमारे लोग संतति और संपत्ति के विरोध को जो दैवमत्सरकृत मानते हैं सो तुरन्तही नष्ट होजायगा और वे भूतपूर्व लोगों की नाईं समुज्ज्वल कीर्ति प्राप्त करने के लिये समर्थ होंगे !

वक्तृता।

तद्वक्ता सदसि ब्रवीतु वचनं यच्छृण्वतां चेतसः
प्रोल्लासं रसपूरणं श्रवणयोरक्ष्णोर्विकासश्रियम्।
क्षुन्निद्राश्रमदुःखकालगतिहृत कार्यान्तरप्रस्मृतिं
प्रोत्कण्ठामनिशं श्रुतौ वितनुते शोकं विरामादपि॥ *

(१) यह विषय परमोपयोगी है। तिसमें अब इधर चारों ओर लोगों का चित्त इसकी ओर विशेषरूप से आकृष्ट होने के कारण सर्व साधारण में इसकी चर्चा विशेषरूपसे होती रहती है। अतः इस बार हमने यही विचारा है कि उक्त विषयपर हमभी कुछ लिखें। और पत्रिकादि संपादकों का परम कर्तव्य भी यही है कि जिन २ विषयों पर लोगों की जो सम्मति निश्चित हो गई हो उनकी सत्यासत्यता का अनुसंधानकर उन्हें यथार्थरूप से लिपिबद्ध करने के उद्योग में वे रहाकरें। एतावता हम इस विषय के सम्बन्ध से सर्व साधारण के जो मत मतान्तर पायेजाते हैं उनकी आलोचना कर अपने पाठकों को इस विषयके यथार्थरूप का परिचय देनेके लिये निम्नलिखित प्रबन्ध प्रकाशित करते हैं।

(२) 'वक्तृता' शब्द का अर्थ 'प्रवचनपटुता' अर्थात् 'बोलने की शक्ति' है। पर यह केवल यौगिक अर्थ है। रूढ़िमें केवल प्रवचन शक्ति के लिये वक्तृ शब्द प्रयुक्त नहीं होता, तौ उसमें उसकी

---

* सभा में उपस्थित हो वक्ता को ऐसी वक्तृता देनी चाहिये कि जिसे सुन श्रोताओं के अन्तःकरण प्रसन्न हों, कर्ण वाग्रस से आप्लावित हों, नेत्र आश्चर्य से विकसित हों, वैसेही, क्षुधा, निद्रा, श्रम, दुःख और कालगति का परिज्ञान न रह, अन्य समस्त कार्यों की विस्मृति हो वक्तृता सुनने के लिये उनका चित्त निरन्तर उत्कण्ठित होता रहे, और उसके शेष होजानेपर उन्हें खेद हो।

अपेक्षा अधिकतर अर्थगर्भित रहता है। वह आगे वक्ताके आवश्यक गुणोंके वर्णनमें स्पष्टरूप से लिखाजायगा । परन्तु यहां पर प्रसगानुसार इतना लिखदेनाही अलम् होगा कि ‘ वक्तृता का ’ प्रधान लक्षण ‘ मोहकता ’ है । अर्थात् जिस संभाषण को सुनतेही श्रोताओं की चित्तवृत्ति चित्रार्पितसी हो वक्ता की ओर आकृष्ट होजाती है उसीका नाम वक्तृता है ।

(३) हम इस विषय को निम्नलिखित चारभाग में विभक्त कर यथाक्रम उनकी आलोचना करते हैं-(१) वक्तृता का आदि पीठ जो ग्रीस देश वहां यह उत्पन्न हो इसका प्रसर कैसे हुआ, यहा इसने कहालों उन्नति लाभ की, और वहासे अन्य-देशोंमें इस का प्रचार किस प्रकारसे हुआ और इसका उत्कर्ष कहालों हुआ (२) हमारे देश में यह वर्तमानरूप से थी वा नहीं आदि का निरूपण । (३) वक्तृता की उन्नति के लिये संप्रति जिन उपायों की शरण लीजाती हैं उनकी आलोचना । (४) उक्त विषय का विवेचनाकर, वक्ताके आवश्यक गुणों का निरूपण, वक्तृताजनित उपयोगितादि की मीमांसाआदि के विषय में लिखेंगे ।

(४) अब प्रथमतः यह विचार करणीय है कि वक्तृता गुण की उत्पत्ति किस प्रकार होती है और उसका प्रसर होनेके लिये किन किन कारणों की आवश्यकता होती है । इतिहास के अवलोकनसे यह बात जान पडती है कि जहां जहां लोगपालित राज्य की स्थिति थी वहा वहा उक्त गुण की स्थिति थी । उस समय संपूर्ण ग्रीसदेशमें से केवल आथेन्स मे ही प्रजाकर्तृकराज्य होनेके कारण प्रसिद्ध २ वक्तागण वहीं उत्पन्न हुए । उस नगरके मेल में स्पार्टा, थीब्स और मासिडन् आदि अनेक राज्य थे पर उनके संपूर्ण इतिहास में एक भी सुप्रसिद्ध वक्ता का उल्लेख नहीं पा

जाता'। वही बात इटालीदेश के संबन्ध से भी दृष्टिगत होती है। उस देश में भी ग्रीस की नाईं छोटे२ अनेक रजवाडे थे, पर बडे २ वक्ताओं का होना केवल रोम नगर के इतिहास में ही पाया जाता है। अब इधर अनुमान सौ दो सौ वर्षके भीतर यही बात इंग्लैंड की भी दीखपडती है। वहां इसकी उत्पत्ति और उन्नति तभी से मानी जाती है जबसे राजा प्रजा में तुमुल युद्ध हो दूसरे पक्ष को अधिकाधिक स्वतन्त्रता प्राप्त होनेलगी। वैसे ही अनुमान सौवर्ष के पूर्व जब फरासीस के देश में बडी धूम हुई थी और उन लोगों को क्षणिक स्वतन्त्रता प्राप्त हुई थी तब उतने संकुचित समय में भी वक्तृता का क्षणमात्र उदय हुआ था। वही घटना इधर अमेरिका के नूतन प्रजाकर्तृक राज्य में भी हुई है। अब एशिया के विषय में देखिये। एशिया महादेश में आज पर्यन्त सैकडों बडे २ राज्य हो गये, पर यह घटना एक में भी नहीं दीख पडती कि वक्ता की वक्तृता सुन लोग सहसा किसी कार्य में प्रवृत्त हो गये हों, वक्तृता की पाठशाला स्थापित की गई हों और बड़े वक्तृताचार्यों ने अपने शिष्यों को वक्तृता दी हों अथवा महती सभा में राज्य कार्यवाही के विषय में दो वक्ताओं ने परस्पर में पूर्वपक्ष-उत्तर पक्ष चलाये हों। हम तो यह समझते है कि 'वक्ता' और 'वक्तृता' इन शब्दों का अर्थ अब इधर जो समझाजाने लगा है तद्वाचक शब्द एशिया महादेश की किसी भाषा में न मिलेंगे। क्योंकि जब किसी शब्द का वाच्यार्थ ही लोगों के मन में कदापि नहीं आया तो तद्व्यञ्जक शब्द का भाषा में न होना यथार्थ ही है। हमारे भूत-पूर्व महर्षियों के समय में अनेक विद्या और शास्त्रों की उन्नति हुई, यही कारण है कि ग्रीक और रोमन आदि प्राचीन राष्ट्रों में जो २ शास्त्रीयविषय पाये जाते है वे सब हमारे देश में थे। यदि

न थे तो केवल दो ही—एक इतिहास और दूसरी वक्तृता। इनमें से पहले के अभाव का कारण फिर कभी अवकाश पाकर लिखेंगे, और वक्तृता के विषय मे तो यहां लिखही रहे हैं। इस लेख द्वारा उसके अभावका कारण पाठकों को सहज ही में ज्ञात होजायगा। वक्तृता के अभाव का कारण हमारे यहां की शासनप्रणाली प्रतीत होती है। हमारे देश में शासनप्रणाली एकही प्रकार की अर्थात् समस्त अधिकार एक राजा के हाथ में रहते और प्रजागण उसके आधीन रहा करते हैं यही शासनरीति प्राचीन काल से आजपर्यन्त एक सी चली आई है। एतावता वक्तृता का यहां कदापि प्रादुर्भूत न होना ठीक ही है। यवनलोगों का इतिहास तो इस सिद्धान्त की बहुत दृढता के साथ पोषकता करता है। देखिये महम्मद के अनुयायी लोगों ने अरबस्थान, ईरान, भारत और चीन प्रभृति पूर्व के देश और पश्चिम की ओर मिसर देश, आफ्रिका का उत्तर किनारा, स्पेन, फ्रान्स और संप्रति जिन्हें तुर्कस्थान कहते हैं वे दो देश, इत्यादि पृथ्वी के विस्तीर्ण प्रदेश व्याप्त कर वहा भिन्न २ प्रकार के राज स्थापित किये—इसमें भी विशेषता यह है कि ग्रीक और रोमनलोगों की समस्तविद्या उन लोगों ने सीख लीं, पर प्रजाकर्तृक शासनप्रणाली की कल्पना तक उनके मन में कदापि नहीं आई। इसके सिवाय ग्रीकलोगों के चिकित्सा, ज्योतिष और अध्यात्मविद्यादि के ग्रन्थों को उन लोगों ने अपनी भाषा में लिख उन्हें बड़े उत्साह से अधीत किया, पर उस भाषा में वक्तृता के जो उत्तमोत्तम ग्रन्थ थे वेमात्र उनकी शासनप्रणाली के विपरीत होने के कारण उन्हें विशेष प्रिय नहीं हुए से जान पड़ते हैं। क्योंकि वे उन्हें प्रिय होकर उनके मत मतान्तर यदि उनके मन पर प्रतिबिम्बित होते तो ग्रीक और रोमनलोगों के स-

दश प्रजासत्तात्मक राज्य उनके उतने सुविस्तीर्ण प्रदेश में कहीं भी हुआ होता। उक्त प्रजाकर्तृक शासनप्रणाली की कल्पना पूर्वदेशीयलोगों के मन को कैसी अत्यन्त अपरिचितहै इसका उत्कृष्ट प्रत्यय हमें हमारे घर ही में मिलता है। आजकल हमारे देश में प्रतिवर्ष सहस्रों सभा स्थापित होती हैं और शीघ्र ही लयको भी प्राप्त होजाती हैं। इसका मुख्य कारण हमें यही प्रतीत होताहै कि यह सभाप्रणाली अन्यदेशीय होनेके कारण यहां केजनप्रचारमें उसका बीजारोपण होनेके लिये अभी पुष्कलसमय की आवश्यकता है। आज सहस्रों वर्षों से जनप्रवृत्ति का जो वहाव चलाआता है उसे अभी एकाएक नूतनरूप देना चाहें तो यह कैसे होसकता है? अस्तु; तो उक्त उल्लेखसे यही सिद्ध होता है कि एशिया महादेश के लोग प्रजाकर्तृक राज्यप्रणाली को बिलकुल न जानते थे एतावता संस्कृत, पारसीक और अर्बी आदि भाषाओं में ग्रीक और ल्याटिन भाषा की नाईं वक्तृता के ग्रन्थ नहीं लिखे गये, । सो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

(५) उक्त प्रतिपादन का अभिप्राय हमारे विवेकी पाठकों के चित्त में आही गया होगा कि वक्तृता का उदय और उत्कर्ष होने का कारण देश में एक विशेषप्रकार के शासनप्रणाली की आवश्यकता है। यह विशेष प्रकार प्रजाकर्तृक शासनप्रणाली है। अब यदि कोई यह प्रश्न करे कि वक्तृता की उत्पत्ति और अभिवृद्धि का कारण उक्त शासनप्रणाली ही क्यों है, और इतर देशोंमें उन दोनों का आविर्भाव क्यों न हो, तो इसका उत्तर देना कोई कठिन कार्य नहीं है। देखिये कि मनुष्य वा देश का गुण प्रकट होने के लिये प्रसंग विशेष की आवश्यकता है; यदि वह न हाथ आवे तो वह गुण दृग्गोचर कदापि नहीं होसकता। मानलो किसी व्यक्तिविशेष को परमोत्तम वक्तृता की शक्ति प्राप्त है पर जबतक उसके प्रकटित होने

का यथेष्ट अवसर नहीं प्राप्त होता तबतक उक्त शक्ति को उस पुरुष के आश्रित ही रहना पडताहै। और कहांलों कहें बिना अवसर प्राप्त हुए उसकी वह शक्ति स्वयं उसे भी नहीं जान पडती। तौ इस प्रतिपादन से यह बात लक्षित होती है, कि, जहां प्रजासत्तात्मक शासनप्रथा रहती है और समाज वा सभा की बहुमतिद्वारा सदा राजकार्य सम्पादित होते हैं, वहां मेधावी पुरुषों को समाज वा सभा के सभ्यों की सम्मति अपनी सी करलेने के हेतुवक्तृता ऐसा सुदृढ साधन और नहीं उपलब्ध होता। जिसके पास वह पूर्णरूप से रहती है उसीकी मूठी में सब लोग रहते हैं। और समस्त राज्य में उसीकी तूती बोलती है। अस्तु; तौ समस्त शासनप्रथाओं में केवल प्रजाकर्तृक शासनप्रणाली वक्तृता के उदय का अनुकूल कारण है; क्योंकि अन्यप्रथा में राज्यकार्य का सम्पादित होना बहुसम्मति पर निर्भर न होने के कारण, अधिक जनों का चित्त अपनी ओर आकृष्ट करनेवाली कला वक्तृता की आवश्यकता ही प्रतीत नहीं होती। तौ इससे यह स्पष्ट ही है कि जब उक्त कलाका मूल ही न रहा तो उसका विस्तार क्योंकर होता।

(६) उक्त दो लेख परिच्छेद में सामान्यतः यह लिखागयाहै कि वक्तृता का उदय होने के हेतु किस प्रकार की अवस्था आवश्यक है। अब पाठकों को उसकी यथार्थता का परिचय देने के लिये कतिपय इतिहासप्रसिद्ध उदाहरण नीचे प्रकाशित करते हैं।

(७) पहला और बडा भारी उदाहरण ग्रीसदेश का है। इस देश के इतिहास* के सम्बन्धसे यह कहाजाताहै कि जिसने ग्रीस

* अब इधर हिन्दी में नाटक उपन्यासादि के छोटे मोटे ग्रन्थ लिखे जाने लगे हैं। पर इतिहास के विषय में सिवाय बाबू कार्त्तिकप्रसादजी सहकारी सम्पादक भारतजीवन बनारस के और कोई उसकी चर्चा तक नहीं करता। ऐसी दशा में ग्रीस और रोम के इतिहास का हिन्दी में स्वप्न देखना भी बड़े साहस का कार्य होगा॥

का इतिहास नहीं पढा उसने मानवी बुद्धिके अद्भुत२ चमत्कार अणु-मात्र भी नहीं देखे। पृथ्वीके सब खण्डोंकी अपेक्षा छोटा जो यूरोप-खण्ड उसके विवरण चित्रपटमें यह देश पूरा नीताभर भी न भरेगा। इतना छोटा होने पर भी इसके कीर्ति के नगाडे आज पर्यन्त संपूर्ण जगत् में बजते हैं और उसी प्रकार जगत्प्रलयलों बजते रहेंगे। इसकी अपेक्षा सौ और हजार गुना बडे देश और भी कई हैं; और बहुतेरे देशों में परमेश्वर के पुत्र ने आकाश से अवतीर्ण हो वहा के लोगों को विश्वास दिलाया है कि तुम्हारा देश परमेश्वर को अत्यन्त प्रिय है; पर उक्त देशने आकार में इतने छोटे और परमेश्वर को अप्रिय होने पर भी निज के बुद्धिसामर्थ्य द्वारा जो उज्ज्वलकीर्ति प्राप्त की है सो अद्यावधि अन्यदेशने प्राप्त नहीं की, और हम समझते हैं कि अब आगे और कोई देश प्राप्त भी न करसकेगा। अस्तु; तौ इस देश के विषय में वर्तमान विषय के सम्बन्ध से यही दिखलाना है कि आदि में वक्तृता यहीं उत्पन्न हुई और शीघ्र ही उन्नति के शिखर पर जा पहुँची; यहीं से अन्यदेशों में उसका प्रचार हुआ, और सम्प्रति भी उसकी स्थिति जो देश देशान्तरों में पाईजाती है उसका मुख्य कारण यही देशहै। इस देशमें वक्तृताने जो उन्नति और पूर्णता लाभ की उससे अधिक आज दो हजार वर्ष में और कहीं नहीं प्राप्त की। उक्त प्रतिपादन से विज्ञपाठकों को तत्क्षण लक्षित होजायगा कि इस वक्तृतारूप महौघ की उत्पत्तिका स्थल आथेन्स का प्रजाकर्तृक राज्य है। इस नगरमें प्रजासत्तात्मक राज्यप्रथा ने प्राचीन कालमें जो सीमा प्राप्त की थी सो उसने और कहीं नहीं प्राप्त की थी और सम्प्रति भी वह सीमा उसे कहीं नहीं प्राप्त है। राज्य के सर्व साधारण की सम्मति से जो बात निश्चित होती

उसे प्रमाणित मान तदनुसार सब कार्यवाही होती। तौ ऐसे समय में सकललोगों के समीप उपस्थित हो जो वक्तृता देता और समस्त लोगों की सम्मति निज की सम्मति के अनुसार कर लेता वही राज्यमें मुख्य माना जाता; और समस्त राज्यसूत्र उसीके हाथ में रहते। आथेन्स नगर में जितने उच्चपदाभिषिक्त राजकर्मचारी हुए उतने सब उक्त गुणविशिष्ट थे; उक्त गुण की पूर्णता के कारण ही उनका अधिकार दीर्घकाल लों निर्विघ्न चला जाता। उक्त कर्मचारियों में अन्तिम डिमासथेनीस हुआ है। उसकी वक्तृता शक्ति की घोषणा आज समस्त भूमण्डल पर गुञ्जायमान हो रही है। मासिडन देशाधिप फिलिप ने जब संपूर्ण ग्रीस देश को पद-दलित करने का मंसूबा बांधा था, तब उक्त वक्ता कैसे जो कतिपय देशाभिमानी थे उन्हें गहरी चिन्ता में मग्न होना पड़ा था। उन लोगोंने अपनी संपूर्ण वक्तृताशक्ति और प्रचण्ड उद्योगकाण्ड द्वारा लोगों को उत्साहित करके उक्त नराधिप के साथ लड़ने के लिये रणक्षेत्रमें उपस्थित कराया था। इस समय और सब रज-वाड़े मासिडन के विरोधी थे; पर फिलिप की युद्धविद्याविशारद सेना और उसके साहस के सन्मुख किसी के किये कुछ न हो-सका उस लड़ाई में वह समस्त देश एक बार जो पराजित हुआ सो फिर वह अपना शिर ऊपर न उठा सका*। उक्त प्रकार से तौ डिमासथेनीस प्रभृति देशाभिमानी पुरुषों का पक्ष यद्यपि गिर गया तथापि उनके परिश्रम सर्वथा व्यर्थ एवं विफलित नहीं होने

* उक्त युद्ध ई० स० के पूर्व ३३८ के साल में हुआ। तब से ग्रीस देश जो पराधीन हुआ सो उसे दो हज़ार वर्ष एक से पराधीनता में काटने पड़े। उसकी इस दीन दशा का अन्त १८२७ के साल में हुआ तब से इधर अब वह स्वतन्त्रता का अनुभव ले रहा है। पर पहले की बात जो एकबार गई सो गई हो गयी!

पाये। क्योंकि संसारमें यावत्काल पर्यन्त देशैकनिष्ठा और वक्तृता की सराहना होती रहेगी तबलों उनके नाम जगत् में अवश्य ही लिये जाया करेंगे। और तो क्या उनके परमशत्रु फिलिप को भी विशाल सैन्यों की अपेक्षा कहीं अधिक उनसे भयभीत होना पड़ा था—वह यहातक कि आथेन्स नगरमें जो वारा सुप्रसिद्ध वक्ता थे उन्हें उपप्रदान (घूस) द्वारा अपने वश करनेके लिये उसे पार्थिव प्रयत्न करने पडेथे; वह ग्रीस का गिरता काल होने के कारण उन वारा में से कई लोग अन्तरङ्ग उसे अनुकूल हो-गयेथे। अस्तु; तौ प्रजाकर्तृक शासनप्रणाली के कारण ग्रीसदेश में उक्त प्रकारसे वक्तृता का आविर्भाव हुआ और उक्त कथनानुसार उसने उतनी उन्नति लाभ की थी।

(८) हम समझते है कि विषयनिरूपण के अनुरोध से समस्त ग्रीस देश ही क्या किन्तु जगत् में जो डिमासथेनीस अद्वितीयवक्ता माना गया, उसके थोडे से जीवनवृत्त का उल्लेख यहां पर अप्रासंगिक और अनुचित न होगा। अतः उसका संक्षेपतः कथन करते है। इस भुवनविख्यात महान् वक्ता ने आथेन्सनगर में जन्म ग्रहण किया। संसार में आगे इसने विशाल कीर्ति और योग्यता प्राप्त की पर आदि में इसके ख्याति की नैसर्गिक सामग्री सब अपूर्ण थी। अर्थात् आदि में इसका आवाज कोता और वर्णोच्चार अस्पष्ट था वैसेही अङ्गविक्षेप भी श्रोताओं के चित्त को आकृष्ट करने के योग्य न थे। उक्त ऊनता के कारण इसे एक प्रसग पर बहुत लज्जित होना पडा था। यह पहला ही प्रसग था कि जब यह सभा में वक्तृता देनेको उपस्थित हुआ था। पर उक्त लज्जा और अपमान के कारण यह हतोत्साह नहीं होगया। तौ उक्त दोषों को दूर करने तथा वक्ता के आवश्यक गुणों को संपादित करनेके हेतु यह

एक सा परिश्रम करते रहा। वह इस प्रकार कि अपने स्वर को बड़ा और गम्भीर करने के हेतु वह समुद्रके तीरपर एकान्तमें जाया करता, और जब समुद्र की प्रचण्ड तरङ्गें उभड़ने लगतीं और मेघों की नाईं गर्जना करने लगतीं तब वहां बड़े आवेगसे वक्तृता दिया करता। बोलते बोलते उसे श्वास बहुत भर आया करता उसका अवरोध करने के लिये वह छोटी २ पहाड़ियों पर यों ही जाया आया करता। ऐसा करते २ कुछ काल में श्वासका अवरोध वह पूर्णरूप से करने लगा। वर्णोच्चार स्पष्टरूप से न होता था अतः उसने मुंहमें बारीक बारीक कंकर भरकर बोलना प्रारम्भ किया। और इस युक्तिद्वारा अल्प समयमें ही उसने उक्त न्यूनता दूर कर दी। इस प्रकार वाणी के सकल दोषों का निरसन कर उसे अन्यान्य गुणों से संयुक्त करने तथा लोगों का मन मोहित करनेकी शक्ति प्राप्त करनेके अर्थ उसने उद्योग करना प्रारम्भ किया। आथेन्स में रङ्गभूमि पर नाटक अभिनीत हुआ करते थे; अतः अङ्गविक्षेप कलाचतुर नटों के पास जाकर उसने अङ्गविक्षेपादि का ज्ञान प्राप्त किया। अपनी वक्तृता को प्रौढ, रसभरित और जन मनोरञ्जन करनेवाली करनेके हेतु उसने सुप्रसिद्ध इतिहासकार थुसिडिडीस के ग्रन्थ को अपने हाथ से आठ बार लिखा। इस प्रकार कई वर्ष लों प्रचण्ड परिश्रम जब डिमासथेनीस ने किये तब अपने देश भाइयों के चित्त पर प्रभाव उत्पन्न करनेवाली सर्वाङ्ग सुन्दर वक्तृता शक्ति उसे प्राप्त हुई और वह बहुमान्य माना जाने लगा और देशहित के गुरुतर कार्य उसके हाथ से संपादित हुए।

यह निर्धारित वार्त्ता है कि व्यक्ति के गुणविशेष को पूर्णरूप से प्रकटित होनेके लिये प्रसंग विशेषकी अत्यन्त आवश्यकता रहती है डिमासथेनीस को अपनी सर्वगुणोपेत वक्तृता द्वारा अपने देश

की सेवा करने के हेतु कौनसा अवसर उसके हाथ लगा और देशसेवा उसने कैसे विषम प्रसंगपर की सो इतिहासज्ञ लोगों से छिपी नहीं है। अभी ऊपर उल्लिखित होही चुका है कि मासिडन प्रान्त के नराधिप फिलिप ने अपनी शासनसीमा बढा समस्त ग्रीस देश को पददलित करनेका मंसूबा बांधा था। इसी अवसर पर उक्त वक्ता के समस्त गुण पूर्णरूप से प्रकाशित हुए। इस अवसर की उसकी वक्तृताएं ऐसी परमोत्कृष्ट है कि समस्त जगत् उन्हें समादृत कर वैसी वक्तृता को उसी के नाम से पुकारते है अर्थात् किसी व्यक्तिपर जब कोई वक्ता बहुत आक्षेप करता है तो उसे अंगरेजी में 'फिलिपिक्' कहते है। इन वक्तृताओं से मासिडन के राजा ऐसे भयभीत रहा करते थे कि लोगों ने डिमासथेनीस को अपने आधीन करने के लिये आथेन्स के कई लोगों से कई बार गुप्तभाव से मन्त्रणा की; और अन्त में उक्त प्रान्त के राजा के भय के कारण ही इस महान् वक्ता को विषप्रयोग द्वारा आत्महत्या करनी पड़ी। ऐसा प्रचण्ड प्रभाव उपजानेवाली वक्तृताएं कैसी उत्तम होंगी सो हमारे विवेकी पाठकगण स्वयं अनुमान करसकते है और इसीसे ग्रीक के मूल ग्रन्थों की योग्यता भी विचार सकते हैं *।

(६) दूसरा उदाहरण रोम का लीजिये। इस नगर में पूर्व ही से प्रजाकर्तृक शासनप्रथा प्रचलित होने के कारण वक्तृता की अत्यन्त आवश्यकता और चाह थी। यहा इन लोगोंमें श्रेष्ठ जन और सामान्य जन ऐसे दो पक्ष थे। इतिहासज्ञ लोगों पर यह बात भलीभांति प्रकाशित है कि जब एक बार उक्त लोगों में

* डिमासथेनीस की वक्तृता के विषय में मेकाले साहब ने एक स्थान पर ऐसा लिखा है कि उनमें से कई ऐसी उत्तम हैं कि उनमें का एक शब्द भी इधर का उधर नहीं करते बनता।

कलह उत्पन्न हो वादविवाद हो रहा था तब पहले पक्षवाले एक चतुर वक्ताने इसाव के कथासंग्रह में से 'उदर और अवयव' की वार्त्ता उदाहृत कर दूसरे पक्ष के लोगों का समाधान किया और कलह को मिटा दोनों पक्षवालों में मेल करादिया। इससे यह स्पष्टरूप से निर्धारित होता है कि उस समय रोमनलोग कैसे सीधे सरल स्वभाव के मनुष्य थे और वक्तृता को कितने प्राचीन काल से जानते थे। यही बात आगे पिन्हसराजा के मन्त्री सिनिपसकी भी पाई जाती है। उसके विषय में इतिहास में यह लिखा है कि उसकी जनचित्ताकर्षक वक्तृता की सहायता से जितने शहर जीते गये उतने राजा के कृपाणबल से भी नहीं पराजित किये गये। जब उसने रोम नगर में आ अपनी अनोखी वक्तृता द्वारा क्षणभर के लिये रोम के लोगों को भी मुग्धकर तन्मय करडाला था और अन्त में जब एक वयोवृद्ध एवं प्रज्ञाचक्षु सभ्य ने सेनेट सभा में उपस्थित हो उसके फैलाये हुए मोहजाल को दूरकर पिन्हस की कपट नीति सब लोगों को लक्षित करादी थी तब उन लोगों ने सचेत हो उक्त वक्ता को रोमनगर से तत्क्षण चले जाने की आज्ञा दी थी। इस बात को भी इतिहासवेत्तागण जानतेही हैं। इसी प्रकार से आगे सिपियो, केटो प्रभृति और भी सुप्रसिद्ध राजकर्मचारी-गण उक्त कला में अत्यन्त निपुण थे और जो २ राजकाज में अगुआ हुआ उसे वक्तृता एक अत्यन्त आवश्यक उपयुक्तता हुई। मेरियस और सीजर ये दोनों बड़े विख्यात सरदार हो गये हैं, और कुछ काललों तो ये दोनों संपूर्ण राज के आधारस्तम्भ ही माने जाते थे; पर तौभी उन्हें उक्त कला में निपुणता प्राप्त करना ही पड़ी थी। पहले की वक्तृता का परिचय 'अनेक विद्यामूल-तत्त्व-संग्रह' नाम की पुस्तक में पाया जाता है। और दूसरा तो वक्ता

में इतना निपुण था कि स्वयं सिसरो ने तदर्थ उसकी प्रशंसा की; और उस समय उसकी अपेक्षा किंचित् न्यून यदि दूसरा कोई माना जाता था तो वह सीजर ही था। सीजर के अनन्तर ब्रूटस और आंटनी इतिहासप्रसिद्ध वक्ता हुए। इन दोनों की वक्तृता का शेक्सपियर कवि ने अपने सर्व प्रसिद्ध नाटक में बड़ी चतुरता से संग्रह किया है। उसे मननपूर्वक पढने से उस समय की रोमनगर की घटना मानो रूप धारणकर दृष्टिपथ में आने लगती है और साथही वक्तृता के प्रचण्ड सामर्थ्य का बोध स्पष्ट-रूप से होजाता है। देखिये, जिस प्रकार वायु की प्रबलता द्वारा संपूर्ण समुद्र जिस दिशा को चाहिये उभडने लगता है, उसी प्रकार से प्रथम वक्ता के अर्थात् ब्रूटस के अपनी संक्षिप्त एवं देश-कालानुमोदित वक्तृता देतेही समस्त लोगों को विश्वास होगया कि सीजर का वध बहुतही ठीक किया गया; जो सबलोगों की स्वतन्त्रता का हरण किया चाहता था उस दुरात्मा का यथोचित रीति से दमन किया गया! पर वहीं जब आंटनी ने अपनी करुण-रसगर्भित वक्तृता दी तब उसके सुनतेही सबलोगों की चित्त-वृत्ति पलट गई। जो लोग अभी सीजर को गालिप्रदान करते थे वेही उसके यथार्थ गुण का वर्णन सुन करुणाप्लावित हो गये; और जिन ब्रूटस आदि हत्या करनेवाले लोगों की अभी उन्होंने प्रशंसा की थी उनका मटियामेट करने के लिये वे दांत होंठ चबाते उन्हींके पीछे दौड पड़े! तो वक्तृता का अद्भुत सामर्थ्य निश्चित करने के लिये अपर उदाहरण की अब कोई आवश्य-कता नहीं है! साराश जबलों रोमनगर में प्रजा की सत्ता थी तबलों वह उक्त कथनानुकूल वक्तृता की उन्नति का कारण हुई और उसीकी सहायता से उसने वैसी पूर्णता लाभ की थी। अब

पूर्व उल्लेखानुसार पीछे कहे हुए सिसरो का थोडासा वृत्तान्त यहां देते है। यह तो पीछे कही चुके है कि; रोमनलोगों में यह अद्वितीय वक्ता माना गया है और डिमासथेनीस के व्यतिरेक इससे श्रेष्ठ और कोई वक्ता नहीं हुआ।

(१०) सिसरो के माता पिता वडे से कुछ कुलीन न थे। इसने और उक्त मेरियस ने एकही ग्राम में जन्म ग्रहण किया था और दोनों ने निज के साहस से ही आगे यश और कीर्ति प्राप्त की। मेरियस ने सेना विभाग में प्रवेश किया और सिसरो ने आइन का अभ्यासकर शीघ्रही कीर्ति संपादित की। सिसरो की योग्यता के और भी दो तीन विज्ञ वकील थे; पर उनलोगों के साथ इसका कई वार वादविवाद हुआ जिसका परिणाम यही हुआ कि उन लोगों को इससे प्रतिद्वन्द्वता शीघ्रही परित्यक्त करना पडी। इस प्रकार से जब न्यायसभा में उसका दवाव और गौरव वढा तव उत्तरोत्तर सर्व साधारण में भी उसकी मान प्रतिष्ठा अधिकाधिक होने लगी। उसे क्रमशः राज्य के उच्चपद मिलते गये और अन्त में उसने कौनसेलका पद प्राप्त किया। जिस साल में उक्त उच्चतम पद सिसरो को मिला उसी साल में रोमनगरही को क्या किन्तु सम्पूर्ण राज्य को एक अचिन्त्य घोर आपत्ति ने आ घेरा। यह रोम के इतिहास में "क्याटिलैन का गुट्ट" के नाम से प्रसिद्ध है। पर सिसरो ने वडी चतुरता से उक्त गुट्ट का विध्वंस किया। और उस घोर विपत्काल में राजधानी और राज्य की रक्षा की। अस्तु; तौ जो सिसरो रोम के राज्य में एक यत्किञ्चित् वकील था सो उक्त प्रकार से एक वहुमान्य व्यक्ति हो गया; और पापे, सीजर आदि रणधुरन्धर की श्रेणी में समादृत हुआ। पर भय और संकट वडप्पन को सदा पिछियायेही रहते हैं और

संसार के नराधम दुष्टात्मागण भले मानुषों को सदा छलाही करते हैं। ठीक यही अवस्था सिसरो की भी हुई। उसके इस प्रकार रोमनलोगों को उपकृत कर रखने और अपनी वसुंधराभूषण जाह्नवी समान समुज्ज्वल कीर्ति से उन्हें सदा के लिये भूषित कर रखने पर भी, स्वयं उन्हीं लोगों ने अपने देश से उसे दो बार बहिष्कृत किया। और अन्त में रोमनगर में दुष्टों की प्रभुता स्थापित हो, भयावनी विपत्ति ने लोगों को दवाया, उसी अशान्ति और हलचल के समय में इस भुवनविख्यात वक्ता का देहान्त हुआ। उसके शत्रुओं ने हत्यारों द्वारा उस का उत्तमाङ्ग (सिर) कटा मँगाया, और सेनेट सभा में जिस सर्वोपरि उच्चस्थान पर आरूढ हो वह सब श्रोताओं को मुग्धकर छोडता था उसी स्थान पर उन लोगों ने उसका सिर कील दिया। शिव! शिव! बलिहारी है इस जघन्यता की!!

ऊपर सिसरो के ऐतिहासिक चरित्र का वर्णन हुआ। अब जिस गुण के कारण वह विश्वविदित हुआ है उसके सम्बन्ध से कुछ वृत्तान्त नीचे लिखा जाता है।

ऊपर कही चुके हैं कि पहले पहल सिसरो आइन का अभ्यास कर वकीली का व्यवसाय करता था। इस व्यवसाय का वक्तृता से जैसा कुछ निकट सम्बन्ध है उसे हमारे विवेकी पाठक जानते ही हैं। तो इस वक्ता की वक्तृताशक्ति प्रथमतः उक्त व्यवसाय के कारण उत्कर्ष को प्राप्त हुई। उस समय आथेन्स और र्होड्स ये दो वक्तृता की उत्तमोत्तम पाठशाला के सुप्रसिद्ध स्थान थे। एतावता उक्त दोनों स्थानपर सुप्रसिद्ध शिक्षादक्ष गुरु के पास सिसरो ने कई वर्षलों वक्तृता का अभ्यास किया। उसके योग से न्यायसभा में उसका विशेष रूप से दवाव पड़नेलगा

और पूर्व कथनानुसार उसका वह दबाव एवं प्रभाव उसकी अम रामर ख्याति और जनप्रियता का कारण हुआ । आगे वह उत्त रोत्तर उच्चपदाभिषिक्त होते गया और उन पदों का कार्य उसने ऐसी दक्षता और सत्यता से किया कि दिनों दिन उसकी अखण्ड कीर्ति वृद्धिलाभ करते गई । उस समय रोमनलोग सदाचरण और नीति के पथ से बहुतही च्युत हो रहे थे अतः सिसरो की नीतिपरायणता और निस्पृहता विशेष रूप से उन लोगों में सम्मानित होने लगी । उसके पास वक्तृता कैसा सुतीक्ष्ण शस्त्र होने के कारण सर्वसाधारण तो उससे भयचकित रहतेही थे पर बड़े २ अमीर और रईस भी उसे डरते थे । एकवार उसके विप क्षियों को सला नाम के एक प्रसिद्ध सरदार ने बहुत कुछ सहा यता दी पर उसने उनके पक्ष का खण्डनकर अपनाही पक्ष स्था पित किया। और हेरीस नाम के अत्याचारी सूबेदार के दांत उसने किस प्रकार खट्टे किये सो इतिहासमर्मज्ञों को विदितही है । आगे क्याटिलेन नामक नरपिशाच ने जो अनर्थ उपस्थित किया था उसका उसने जिस प्रकार से दमन किया सो पीछे उल्लिखित होहीचुका है । उस कठिन अवसर पर सिसरो की बहुतही चाह हुई; और वही समय आगे उसके भाग्योदय और अतुलविभव का कारण हुआ । इस समय की उसकी सेनेटसभा की वक्तृता पीछे कहे हुए व्हेरस के सम्बन्ध की वक्तृता की नाईंही प्रसिद्ध हैं पर इतने परही समाप्ति नहीं हुई । तौ उक्त घोरतर दो आपत्तियों की अपेक्षा रोम का अधिक गुरुतर विपत्तिसे आहत होना और उसके कारण सिसरो की वक्तृता का पूर्णरूप से विकास पाना अभी शेषही था । यह दारुण अवस्था सीजर के वध समय की है । छप्पन मनुष्यों ने सभा में एकत्रित हो ज्योंही सीजर का वध

किया त्योंही समस्त राज्यव्यूह, जिसकी रचना उसने प्रचण्ड परिश्रम से की थी, एक वारही नष्ट भ्रष्ट होगया और उसके कारण सब राजभर में कई वर्षलों अधाधुंधी मची रही। इस समय पूर्वलिखित आंटनी सीजर का कृपापात्र होने के कारण लोगों का चित्त अपनी ओर आकृष्टकर स्वयं राजा बन बैठने के लिये चाल चल रहा था। इस बात के जानतेही सिसरो और उसके सदृश अपरलोग जो प्रजाकर्तृक राज्य के अभिमानी थे इसका विरोध करने लगे। पर आंटनी को अपने पक्ष के लोगों की पूर्णसहायता होने के कारण उनके विरोध से कोई हानि न पहुँचसकी। अन्त में जब उसने सोचा कि, सिसरो के आक्रमण से बचना बड़ा कठिन कार्य है तब वह वहां से चम्पत होगया। पर फिर भी सिसरो ने उसका पीछा नहीं छोड़ा। उस पर आक्रमण करने के हेतु उसने रोमनगर से सेना भेजी। कहने का अभिप्राय यह है कि इस समय सिसरो को अपनी वक्तृताशक्ति का सर्वस्व प्रकटित करना पड़ा। इस समय की आंटनी के विरुद्ध की वक्तृता में उसपर इतना आक्षेप किया है कि उसके लिये पीछे कहा हुआ 'फिलिपिक्' शब्द प्रयुक्त किया जाता है। ये वक्तृताएं अनुमान बीस पचीस हैं। इन सबको सुनने के लिये आंटनी रोम नगर में नहीं रहसका। पहली दूसरी वक्तृता सुनतेही वह इतना घबड़ाया कि 'फाटय भूमि तौ जाउं समायी' वाली बात होगई। और किसी प्रकार अपने प्राण बचा वहां से भागने की वह चिन्ता करने लगा। और जब वह रोम से निकल आल्प्स पर्वत के पार हो गया तब उसके जीमें जी आया। फिर वहां ठहरकर उसने कई युक्तिप्रयुक्ति द्वारा अपने विपक्षी सरदारों को, जो उस पर आक्रमण करने के लिये भेजे गये थे, प्रसन्नकर अनुकूल कर

लिया। और फ़िर एक बार रोमनगर में अपनी प्रभुता स्थापित कर पूर्व कथनानुसार सिसरो से अपना वैर लिया। अस्तु; तौ सरस्वती की ऐसी विलक्षण महिमा है!

(११) पाठकों को वक्तृता के दो आदिपीठों का वृत्तान्त सुना चुके। अब दैववशात् हमारे देश का जिस देश से संघटन हुआ है उस इंग्लैडदेश के विषय में वक्तृता के सम्बन्ध से कुछ लिखते हैं। पीछे एक स्थान पर उल्लिखित होही चुका है कि, इंग्लैड में अनुमान दो सौ वर्ष के पूर्व जब राजा और प्रजा में भयावना युद्ध हुआ था तभी से उस देश में वक्तृता की प्रवृत्ति हुई, और वह उसी समय क्यों हुई इसका कारण भी पीछे कहा जाचुका है। अब उक्त देश के प्रसिद्ध २ वक्तागणों के नाम नीचे प्रकाशित किये जाते है।

उक्त भयंकर युद्ध के समय भी पार्लिमेंट महती सभा में ऐसे कई सभ्य थे जो नामी वक्ता माने जाते थे। उनकी नामावलि इतिहास में प्रसिद्ध है, पर वह वक्तृता के सम्बन्ध से वैसे प्रसिद्ध न होने के कारण यहां प्रकाशित नहीं किये जाते। इसके अनन्तर भी कई वर्षों इंग्लैड में अच्छे २ वक्ता होते गये, पर उक्त कारण वश ही उनके नाम का निर्देश यहां नहीं हो सकता। अब इस बात का यदि विचार किया जाय कि, उक्त लोगों के नाम केवल उन्हींके समय में प्रसिद्ध रहे और फिर क्यों अप्रसिद्ध हो गये, तो इसके दो कारण जान पड़ते है। एक तो यह कि संप्रति इंग्लैड में जो एक उपयुक्त कला आज कई वर्षों से प्रचलित है सो उस समय न थी। यह कला संक्षिप्तलिपि अर्थात् वक्ता के वक्तृता देते समय ही उसकी वक्तृता को शीघ्रतापूर्वक अविकलरूप से लिख लेने की युक्ति है। आजकल यह युक्ति भली भांति पूर्णता को पहुँच

आने के कारण और चारों ओर यह प्रसिद्ध होनेके कारण बिलकुल सामान्य वक्तागणों की वक्तृताएं भी अविकलरूप से लिपिबद्धकर तत्क्षण चारों ओर जितनी अधिकता के साथ चाहिये वितरित कर दी जासकती है। पार्लिमेंट महतीसभा के सभ्यगण अरुणोदय के प्राक् अपने २ घर पहुँचने तक नहीं पाते कि उनकी वक्तृताएं छपकर चारों ओर वितरित होजाती हैं; और शीघ्रही कुछ काल के अनन्तर जगत् भर में उनका नाम प्रसिद्ध होजाता है। आजकल के वक्तृगणों को ये सब बातें अनुकूल हैं; पर भूतपूर्व वक्ताओं को इनमें से कुछ भी अनुकूल न थीं। सभागृह के भीतर जो कुछ होता हो सोई होता था; और वक्ताओं की प्रशंसा लोगों में जो फैलती थी सो केवल श्रोताओं के कथनोपकथनद्वारा ही फैलती थी। और तो क्या पर गत-शताब्दी के पूर्वार्ध के अन्तअन्तलों भी पार्लिमेंट की वक्तृताएं सर्व साधारण को विदित होने का कोई अच्छासा साधन न था, उस समय के पत्रों में केवल उनका साराश प्रकाशित हुआ करता था। केवल एक पत्र में वे वक्तृताएं पूर्णरूप से प्रकाशित हुआ करती थीं, सो भी ज्योंकी त्यों प्रकाशित होती हों सो नहीं तो केवल उनका आशय उनमें आजाया करता था। * अस्तु; तो वक्र संक्षिप्त लिपि की युक्ति आविष्कृत होनेके पूर्व वक्ताओं के प्रसिद्ध होनेमें बडी अडचन थी; और यही कारण है कि तत्का-लीन बहुतेरे वक्ताओं की वक्तृता के विषय में अब कीर्तिमात्र शेष रहगई है। और तो क्या पर अभी जिसका देहान्त हुए पूरे

---

* यह 'जेंटलमेन्स म्यागझैन' नाम का कागज़ उस समय इंग्लैंड में निकलता था। इसमें वह वक्तृताएं आनुमन् लिखा करता था। लोगों से जो टिप्पणी प्राप्त होती थीं उन्हींकी सहायता से वह इनकी रचना किया करता था।

लिया। और फिर एक वार रोमनगर में अपनी प्रभुता स्थापित कर पूर्व कथनानुसार सिसरो से अपना वैर लिया। अस्तु; तौ सरस्वती की ऐसी विलक्षण महिमा है!

(११) पाठकों को वक्तृता के दो आदिपीठों का वृत्तान्त सुना चुके। अब दैववशात् हमारे देश का जिस देश से संबन्ध हुआ है उस इंग्लैंडदेश के विषय में वक्तृता के सम्बन्ध से कुछ लिखते है। पीछे एक स्थान पर उल्लिखित होही चुका है कि इंग्लैंड में अनुमान दो सौ वर्ष के पूर्व जब राजा और प्रजा में भयावना युद्ध हुआ था तभी से उस देश में वक्तृता की प्रवृत्ति हुई, और वह उसी समय क्यों हुई इसका कारण भी पीछे कहा जाचुका है। अब उक्त देश के प्रसिद्ध २ वक्तागणों के नाम नीचे प्रकाशित किये जाते है।

उक्त भयंकर युद्ध के समय भी पार्लिमेंट महती सभा में ऐसे कई सभ्य थे जो नामी वक्ता माने जाते थे। उनकी नामावलि इतिहास में प्रसिद्ध है, पर वह वक्तृता के सम्बन्ध से वैसे प्रसिद्ध न होने के कारण यहां प्रकाशित नहीं किये जाते। इसके अनन्तर भी कई वर्षलों इंग्लैंड में अच्छे २ वक्ता होते गये, पर उक्त कारणवश ही उनके नाम का निर्देश यहां नहीं हो सकता। अब इस बात का यदि विचार किया जाय कि, उक्त लोगों के नाम केवल उन्हींके समय में प्रसिद्ध रहे और फिर क्यों अप्रसिद्ध हो गये, तो इसके दो कारण जान पड़ते हैं। एक तो यह कि संप्रति इंग्लैंड में जो एक उपयुक्त कला आज कई वर्षों से प्रचलित है सो उस समय न थी। यह कला संक्षिप्तलिपि अर्थात् वक्ता के वक्तृता देते समय ही उसकी वक्तृता को शीघ्रतापूर्वक अविकलरूप से लिख लेने की युक्ति है। आजकल यह युक्ति भली भांति पूर्णता को पहुँच

आने के कारण और चारों ओर यह प्रसिद्ध होनेके कारण बिलकुल सामान्य वक्तागणों की वक्तृताएं भी अविकलरूप से लिपिबद्धकर तत्क्षण चारों ओर जितनी अधिकता के साथ चाहिये वितरित कर दी जासकती है। पार्लिमेंट महतीसभा के सभ्यगण अरुणोदय के प्राक् अपने २ घर पहुँचने तक नहीं पाते कि उनकी वक्तृताएं छपकर चारों ओर वितरित होजाती हैं; और शीघ्रही कुछ काल के अनन्तर जगत् भर में उनका नाम प्रसिद्ध होजाता है! आजकल के वक्तृगणों को ये सब बातें अनुकूल है; पर भूतपूर्व वक्ताओं को इनमें से कुछ भी अनुकूल न थीं। सभागृह के भीतर जो कुछ होता हो सोई होता था; और वक्ताओं की प्रशंसा लोगों में जो फैलती थी सो केवल श्रोताओं के कथनोपकथनद्वारा ही फैलती थी। और तो क्या पर गत-शताब्दी के पूर्वार्ध के अन्तअन्तलों भी पार्लिमेंट की वक्तृताएं सर्व साधारण को विदित होने का कोई अच्छासा साधन न था, उस समय के पत्रों में केवल उनका-सारांश प्रकाशित हुआ करता था। केवल एक पत्र में वे वक्तृताएं पूर्णरूप से प्रकाशित हुआ करती थीं, सो भी ज्योंकी त्यों प्रकाशित होती हों सो नहीं तो केवल उनका आशय उनमें आजाया करता था। * अस्तु, तो उक्त संक्षिप्त लिपि की युक्ति आविष्कृत होनेके पूर्व वक्ताओं के प्रसिद्ध होनेमें बडी अड़चन थी; और यही कारण है कि तत्का-लीन बहुतेरे वक्ताओं की वक्तृता के विषय में अब कीर्तिमात्र शेष रहगई है। और तो क्या पर अभी जिसका देहान्त हुए पूरे

---

* यह 'जेंटलमेन्स म्यागजैन' नाम का कागज़ उस समय इंग्लैंड में निकलता था। इसमें यह वक्तृताएं जान्सन् लिखा करता था। लोगों से जो टिप्पणी प्राप्त होती थीं उन्हींकी सहायता से यह इनकी रचना किया करता था।

सौ वर्ष भी न बीते होंगे उस पिट्टनामक विख्यातवक्ता की भी वक्तृताएं अब केवल अंशतः उपलब्ध होती है; और अपरो की तो उक्त कला के अभाव के कारण कब की लुप्त होगई ।

दूसरा उदाहरण यह माना जा सक्ता है कि मूल का रूप जैसा उत्तम होगा वैसाही उत्तम चित्रकार वा मूर्तिकार उसे अपनी कृति में उतार सकेगा; अथवा विषय उत्तम होनेके कारण कवि की प्रतिभा जिस प्रकार उत्तेजित हो काव्य को विशेष रमणीयता प्राप्त होती है, उसी प्रकार से वक्ता को भी प्रसङ्गविशेष की अनुकूलता आवश्यक है । हमारे विवेकी पाठकों को इस सिद्धान्त का प्रत्यय पिछले महान् दो वक्ताओं के वृत्तान्त से हो हीं चुका होगा, तौ यह भी उक्त वक्ताओं की कीर्ति उनके जीवनकाल के पश्चात् संसार में न रहने का एक बडा कारण माना जासकता है । जिस विषय के उत्तेजनार्थ उन लोगों ने अपनी वक्तृताशक्ति प्रकाशित की वह विषय सर्वसाधारण को उपयोगी न जानपडने के कारण उस पर आधेय होनेवाली उनकी कीर्ति भी शीघ्रही विनष्ट होगई । और इसके सिवाय यह भी माना जासकता है कि वे विषय सामान्य योग्यता के होनेके कारण उनकी वक्तृतायें भी उन विषय पर सामान्यही हुई होंगी । पदार्थविज्ञान शास्त्र में जल के दवाव का जो नियम है कि वह जितनी उँचाई पर रहता है उतनीही उँचाई तक नलद्वारा दूसरी ओर चढसकता है, वही नियम समस्त कलाकलाप के लिये चरितार्थ होता है । सारांश शिल्पी की चतुरता विषय की योग्यता और अनुकूलता पर निर्भर है । तौ इससे यही अनुमित होता है कि इधर के कई नामी वक्ताओं के पूर्वके अनेक वक्ताओं की कीर्ति चिरस्थित न होने के उक्त दो ही कारण हैं ।

अब इंग्लैंडदेश में जिनकी कीर्ति विशेषरूप से स्थिर है और उसका चिरस्थित होना भी सम्भव जानपडता है ऐसे कुछ अत्यन्त प्रसिद्ध वक्ताओं का यहापर उल्लेख किया जाता है। इन सब में समय, और कुछ अंश में योग्यता में भी प्रथम माना जाने वाला विलियम्पिट्ट अपर नाम लार्डच्याथम है। इसने 'हौसआफ़ कामन्स में' प्रविष्ट हो वहा बहुत मानमान्यता प्राप्त की। अपनी प्रभावोत्पादक वक्तृता की सहायता से इसने उक्त सभा को अपनी सी कर कुछ काल पर्यन्त तो समस्त राज्य सूत्र अपनेही हाथ में कर लिये थे। उस समय इसकी बराबरी का फाक्सनामक एक और भी प्रसिद्ध वक्ता था। वह भी इसके ऐसा प्रजापक्ष का था और अन्तलों वह उसी पक्ष का बनारहा। उक्त च्याथम् का देहान्त होनेपर उसका दूसरा पुत्र विलियम्पिट्ट, जो अन्तलों इसी सादे नाम से प्रसिद्ध रहा, उसका स्थानापन्न हुआ। इसके वक्तृता सत्यप्रियता और राजनिष्ठादि गुण अपने पिता कैसेही थे। पर बात यह हुई कि राजकाज सम्पादन में जैसा कुछ यश इसके पिता को मिला सो इसे नहीं प्राप्त हुआ, वा यही मान लियाजाय कि, वह सुख इसे बदा न था। राज्य में इसके पिता का दबाव और प्रभाव अच्छा होनेके कारण युरोप, अमेरिका और भारतादि में अंगरेजों का उत्कर्ष होता गया; पर इसके समय में तो लोगों को इंग्लैंडके ही बचने की शङ्का थी? अब यह बात सच है कि इसके समय में भी अंगरेजों को बहुत जयलाभ हुआ, और जो पराजय हुआ उसका कारण यह कदापि नहीं कहा जासकता। क्योंकि आगे फिर थोडेही समय में अंगरेज लोगों का उक्त भय भी दूर हो गया, पर तौभी जबलों यह जीतारहा तबलों इंग्लैंड की दशा दुर्दशाही रही। उक्त प्रसंग इस शताब्दी

के आदि में नेपोलियन वादशाह ने सब जगत् भर में जो उपद्रव किया था सो है । नेपोलियन ने प्रायः समूचे युरोप को उलटा एशिया पर भी चाल की थी, और सब युरोपभर में अंगरेजों की तो उसने मिट्टी खराब करडाली थी; और एक साल तो उस ने इंग्लैंड पर ही आक्रमण करने का घात लगाया था; ये बातें सब इतिहासज्ञों को विदितही हैं; तौ इसी अन्तिम भयावने घोर विपत्काल के लागपर उक्त पिट्ट मृत्यु को प्राप्त हुआ । * आगे वेलिंगटन् ब्लचर, कुडु साफा † आदि सरदारों ने फरासीसी लोगों को पराजित कर चारोंओर से फ्रांसपरही जो लगातार आक्रमण किया उसे देखने के लिये वह न वचा, अस्तु; इसी समय और

---

* पिट्ट १८०९ के साल में स्वर्गवासी हुआ । इस वर्ष टाफलगार में अंगरेजों की बड़ी जीत हुई; और आगे दोही महीने में नेपोलियन को आष्टरलिक में जयलाभ हुआ जिसके द्वारा सम्पूर्ण युरोप उसके हाथ लगा । इस युद्ध के समाचार ने पिट्ट के हृदय पर ऐसा घातक आघात किया कि, फिर उसे सभलनेही नहीं दिया । सोनपत पानपत के युद्ध समाचार सुन नानासाहिब की जो अवस्था हुई थी ठीक वही अवस्था उसकी हो आगे शीघ्रही उसका देहान्त हुआ । उक्त समय पर युरोप की भविष्यत् अवस्था के विषय में वह ऐसा हताश होगया था कि उस संवाद को सचा सा जानते ही उसने कह दिया कि, सम्मुख रखे हुए युरोप के उस विस्तारचित्र को अब गुड़कर रख दो । अब आगे पांच पचास वर्षलों उसकी कोई आवश्यकता उपस्थित न होगी । सुनते हैं अन्त समय उसके मुँह से या शब्द 'हा ! अब मेरे देश की क्या गति होगी' निकले थे ।

† ये वेलिंगटन् कौनहैं सो तो हमारे पाठक जानतेही होंगे । जिनने बाजीराव को गद्दी पर बिठलाया, टीपू और सेंदिया को पराजित किया, और जिनका नाम वेलसलीपुत्र के कारण सबके जिह्वाग्रपर स्थित होरहा है; वे यही साहब हैं । और अपर दोनों सरदार यथाक्रम प्रशियन और राशियन लोगों के अग्रसर थे ।

भी बहुतेरे वक्ता हुए। पर उन सबमें बर्क और शेरेडियान ही मुख्य मानेजाते हैं। इनमें से पहले का आगे सविस्तर वृत्तान्त दिया जायगा; उसीके साथ दूसरे के विषय में भी उल्लेख कर दियाजायगा, अतः दोनों के सम्बन्ध से यहां कुछ विशेष लिखने की कोई आवश्यकता नहीं है। इसके अनन्तर आजपर्यन्त भी इंग्लैंड में इस गुण की (वक्तृता) स्थिति बहुत कुछ पाई जाती है। इसके पूर्वके मेकाले कैसे कुछ ग्रन्थकर्ता, और संमति के ग्ल्याड्स्टन्, डिज्रेली ब्राइट प्रभृति उच्चपदाभिषिक्त राजकर्मचारी गणों की भी नामी वक्ताओं की श्रेणी में गणना की जाती है। और अब इधर विलायत में विद्या का फैलाव अधिकाधिक होने के कारण वक्तृता का अभ्यास और तज्जन्य ख्याति का उत्साह बडी २ सभाओं से ले छोटी पाठशाला की कक्षालों पहुँच गया है। ऐसी दशा में इस गुण का उक्त देश में लुप्त होजाना बहुधा संभव नहीं है।

(१२) अब उक्त कथनानुसार यहां पर बर्क का थोड़ा सा वृत्तान्त लिखा जाता है। इसका प्रधान कारण तो यह है कि, यह भुवनविख्यात पुरुष वक्तागणों में बडा नामी ग्रामी माना जाता है, पर इसके सिवाय इसके विषय में यहां यह भी उल्लिखित होने योग्य है कि पाण्डित्य और बुद्धिमत्ता में इसकी बराबरी करनेवाले लोग इंग्लैंड में थोडेही हुए होंगे। पाठकों को इस जगद्विख्यात वक्ता का परिचय देने का एक तीसरा कारण और भी यह है कि अनुमान सौ वर्ष के पूर्व फ़ासेट साहब की नाईं पार्लिमेंट में यह अपने देश की ओर से सात वर्षलों एकसा लड़ते रहा। यह सब वृत्तान्त आगे यथास्थान पर लिखा ही जायगा। अस्तु; बर्क जानसन् का समकालीन था। इन दोनों

में बड़ी मित्रता थी, और दोनों परस्पर को बहुत मानते थे* वैसेही धन संपत्ति के सम्बन्ध से भी ये दोनों सम समानही रहे। पर अपने २ गुणों में इन्होंने सबकी अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त की। जैसे जानसन् ने सब ग्रन्थकारों की अपेक्षा उच्चतम आसन प्राप्त किया, वैसेहीं वक्तृता और राजकाजसम्पादन में बर्क से बढ़कर अधिक दक्ष कोई नहीं हुआ। लगभग सौ वर्ष के पूर्व जब अमेरिकन लोगों का इंग्लैंड के लोगों से घोर विरोध चला जाता था और कई दूरदर्शी एवं उदारचित्त मनुष्य उन लोगों के पक्ष में सदा वक्तृता दिया करते थे; ऐसेही लोगों में इसकी गणना की जाती थी। इस समय की इसकी वक्तृताएं सुन आश्चर्यचकित हो स्वयं लाट च्याथेम को भी सिर हिलाना पड़ा था। बर्क की वक्तृता का यह प्रथम प्रसंग था; इतः पर उसकी वक्तृता धीरे धीरे चारों ओर विख्यात होनेलगी, और क्रमशः उसके जीवन के अन्तपर्यन्त वह कीर्ति मन्दिर के शिखरपर आरूढ़ होगई। उस समय पार्लिमेंट के सभ्यों में यह सर्वोपरि माना जाता था। इ. स. १७८९ के साल में फ्रान्सदेश में प्रजावर्ग में जो घोर हलचल हुई—जिसके कारण फ्रान्सदेश में दो तीन साल में ही आकाश पाताल एकसे होगये और जिस अचिन्त्य आपत्ति के कारण समस्त युरोप भयभीत हो सम्पूर्ण देश में अशान्तता

* यह कहने में कोई विशेषता नहीं है कि उस समय के और लोगों की नाईं बर्क भी जानसन् को मानता था। पर इसमें अवश्य विशेषता जान पड़ती है कि जानसन् बड़ा अभिमानी और लोगों को तृणप्राय माननेवाला होने परभी बर्क को मित्र मान उसका समादर किया करता था और उसके विषय में कहा करता था कि यदि कोई मनुष्य कहीं जाता हो और बीचही में मेह बरसने लगे और प्रसंगवशात् उसे उस समय क्षणभर बर्क के पड़ोस में ठहरना पड़े तो वह मनुष्य तत्क्षण जान जायगा कि यह कोई लोकोत्तर पुरुष है।

एकसी छाईरही–उसीके सम्बन्ध से इस वक्ता की वक्तृताशक्ति पूर्णरूप से उदय को प्राप्त हुई। पर इस समय इसका चित्त पुत्र-शोक से अत्यन्त उद्विग्न और विह्वल होनेके कारण और फ्रान्स भर में हाहाकार मच पारिस राजधानी साक्षात् यमपुरी होजानेके कारण वहांके लोगों के विषय में इसके मन में जो सन्ताप और घृणा भरगई थी उसके और अन्यान्य कारणों के योग से, सद्योदित चन्द्र का प्रकाश जैसे प्रसन्नता और आह्लाद-दायक नहीं होता, वैसेही उक्त प्रसंग की इसकी वक्तृता पूर्व की वाग्विलाससम्पन्न वक्तृता की नाईं रमणीक नहीं है। उक्त दुष्ट विकारों के पटल से उसकी समुज्ज्वल बुद्धि आच्छादित होजाने के कारण उसका शुद्धरूप उक्त वक्तृता में दृष्टिगत नहीं होता।

यही सब कारण है कि जिनके योग से वर्ककी ये अन्तिम वक्तृताएं सर्वोत्तम नहीं मानीजातीं। एतावता उक्त प्रसंग के पूर्व उसकी वक्तृता का जो विकास हुआ उसीको परमोत्कृष्ट मानते हैं। भारत के प्रथम बडे लाट वारन्हेस्टिंग्स के अपना पद छोड़ विलायत लौट जानेपर वर्कप्रभृति वक्तागणों ने उनके विपक्ष में पार्लिमेंट में जो आवेदनपत्र उपस्थित किया था और उनपर बाइस दोप आरोपितकर उन्हें प्रमाणित करने को जो वक्तृता दी थीं वे उन लोगों की कीर्ति को संसार में चिरस्थित करनेके लिये पूर्णरूप से समर्थ हैं। पीछे आथेन्स और रोमनगर की प्रचण्ड वक्तृता के जो उदाहरण दिये गये है उनकी बराबरी की इंग्लैंड में यदि वक्तृता हुई है तो उक्त प्रसंगकी ही वक्तृता हुई हैं। अस्तु; तौ वर्क का नाम भारतवासी प्रजासमूह को अधिक प्रिय होनेका कारण उसकी उक्त प्रसगकी उक्त वक्तृता है। रसिक एवं उदारचेतस लोगों की समाजमें उसका नाम चिरस्मरणीय बनारहेगा यह स्पष्टही है॥

---

(२)

(१) पिछले अङ्क में वक्तृताके एकभाग का निरूपण किया गया। अब इसअङ्क में इस बातका विचार किया जाता है, कि हमारे देश में वक्तृता किसरूपसे थी और कैसी थी।

(२) गत संख्या में वक्तृता की उत्पत्ति के विषय में लिखती बार अपने देश के विषय में यह बात लिख ही आये हैं कि यहां की शासनप्रणाली उसकी उत्पत्ति और अभिवृद्धि को अनुकूल न थी। अर्थात् आथेन्स और रोम में प्रजाकर्तृक राज्यप्रणाली प्रचलित होनेके कारण वह गुण जैसे वहां निसर्गतः उत्पन्न हो वहांके लोगों में उत्तरोत्तर वृद्धिलाभ करते गया; वैसा, यहां कभी भी नहीं हुआ। इससे कोई सहसा यही कहेगा कि, जब हमारे देश में इस गुण का अभावही रहा है तो इसके विषय में कोई लिख पढ़ही क्या सकता है। ऐसा मानलेना कहांलों युक्तिसंगत होता है सो आगेके लेख से स्पष्ट हो जायगा।

(३) वक्तृता यह एक ऐसा गुण है कि इसकी स्थिति संसार में उसके प्रारम्भ से रहनी चाहिये। अर्थात् यह कहना अनुचित साहस न समझा जायगा कि, इस गुण का प्रादुर्भाव संसार में भगवती सरस्वती के जन्म के साथही साथ हुआ है। मानवी भाषा का जब से प्रचार हुआ तभी से थोड़े मनुष्य इस गुण से विशिष्ट हो इतर मनुष्यों को मोहित करने के लिये समर्थ होने लगे होंगे। योंही अनुसंधान करनेसे वसुधातल पर यह बात लक्षित होती है कि अघोर ग्रामीणलोगों में भी किसी २ मनुष्य का बातचीत करनेका ढंग ऐसा कुछ विलक्षण रहता है कि, वह बहुत सहजही में दूसरे का चित्त अपनी ओर आकृष्ट करते सकता है। उसकी वाणी का ऐसा कुछ प्रभाव रहता है कि सब

उसका बोलना चित्रार्पित से हो सुनाही करते हैं। ठीक यही बात समस्त जाति की आद्यावस्थामें भी दीख पडती है। देखिये कि, युरोप महादेश के समस्त देशों में ग्रीस कैसा पुराना और देश नहीं है, और उस देश की भाषा में होमरकृत 'इलियड' नामक काव्य ऐसा प्राचीन अपर ग्रन्थ नहीं है। पर उसमें भी वक्तृता का आविर्भाव स्पष्टरूप से दृष्टिगत होता है। ग्रीस देश के जिन राजालोगों ने ट्रायनाम के नगर पर धावा किया था उनमें भिन्न २ गुण विशिष्ट अनेकलोग थे। उनमें युलिसिस नाम का राजा बड़ा नामी वक्ता था। वैसेही भारत युद्ध प्रसिद्ध पितामह भीष्म की समानता का नेष्टर नाम का एक वृद्ध राजा उक्त काव्य में विख्यात है; उसकी वक्तृताशक्ति तो उक्त युलिसिस की अपेक्षा कहीं बढ़कर थी। उक्त राजाओं में जब कभी परस्पर में विरोधभाव उद्भूत होजाता था और वे आपस में लडने लगते तब अपनी प्रभावोत्पादक वक्तृताद्वारा वही उन्हें समझाया बुझाया करता था। होमर कवि ने अपने अजरामर काव्य में उक्त वक्तृताओं को बड़ी चतुरता से व्यवहृत किया है। जो ग्रीस देश कुछ काल के अनन्तर वक्तृतागुण के उच्चतम शिखरपर दृढस्थित हुआ उसकी आद्यावस्था उनमें लक्षित हो वक्तृता की उत्पत्ति पूर्णरूप से झलकती है। तो युरोप के अत्यन्त प्राचीन काल की दशा का पता यों लगता है। अब इधर एशिया में देखिये। इसके अत्यन्त प्राचीनदेश भारत और चीन ये दो हैं। इनमें से दूसरे के सम्बन्ध से संसार को अभी लों विशेष परिचय उपलब्ध नहीं हुआ है, एतावता उसके विषय में कुछ भी नहीं लिखाजा सकता। रहा भारत सो उसके विषय में हमारे पास चीन की अपेक्षा बहुत कुछ सामग्री उपस्थित है। अब उस

सामग्री से यह भलेही प्रमाणित न हो सके कि वक्तृता की स्थिति ग्रीसदेश की नाईं हमारे देश में भी थी; पर इसमें कोई संदेह नहीं है कि युरोपके उक्त काव्य की समानता के हमारे इधर के 'रामायण' और विशेषतः "महाभारत' काव्य में वक्तृता गुण की स्थिति बहुत प्राचीनकाल से पाई जाती है। हां इतना अवश्य है कि हमारे उक्त ग्रन्थान्तर्गत वक्तृताशब्द का अर्थ पाश्चात्य वक्तृताशब्द के अर्थ का अनुधावन नहीं करता। अथवा उक्त ग्रन्थों में ही क्यों कहें भारत में आजभी उक्तशब्द की वही अवस्था है।

(४) वक्तृत्वगुण की अभिवृद्धि का एक अपर गुरुतर कारण यह भी कहा जाता है कि उसके उज्ज्वल बने रहने का साधन सदा अनुकूल रहता है। अन्य कलाओं के लिये ऐसी अनुकूलता स्यात ही रहती हो। क्योंकि काव्यरचना, चित्रकारी, वादनकला, नाना प्रकार की शिल्पविद्या नाट्य, मल्लविद्या, युद्ध कुशलता प्रभृति में से किसी एक का अभ्यास करने के लिये जैसे भारी घटाटोप और परिश्रम करने पडते हैं सो पाठकों को विदितही है। कविता का अभ्यास करने के लिये कागज, लेखनी और रोशनाई आदि का सदा संग्रह रखना पड़ता है और संतत गणमात्रा जोड़ने की गहरी चिन्ता में मग्न रहना पड़ता है। उसी प्रकार चित्रउतारना, बाजा बजाना, कुश्ती वा कसरत करना आदि किसी कार्य में अभ्यस्त होने के पूर्व उसकी पूरी २ सामग्री एकत्रित करलेना पडती है तब कहीं जाकर वह साध्य होता है; और इसके सिवा यह कार्य ऐसे हैं कि इन्हीं के लिये संतत उद्योग करते रहो तो शीघ्रही जी उकता जाता है। इनके सिवा पाषाण की मूर्ति बनाना, घर बनाना आदि भी आधिक

परिश्रम के कार्य है । युद्धादि प्रसंग किसी के स्वाधीन के ही नही है । अस्तु; तो अपर कलाओं का संतत अभ्यास रखने के लिये सामग्री की सिद्धि और परिश्रम आदि की नितान्त आवश्यकता रहती है और ये आवश्यकता ऐसी हैं कि इनका सदा अनुकूल रहना दुःसाध्य है । पर वक्तृता की बातही कुछ निराली है । उस की सामग्री उपलब्ध करने के लिये न तो वैसे कुछ परिश्रमही करना पड़ते हैं और न उनकी प्राप्ति के लिये बहुत समयही आवश्यक है । परमेश्वर ने अपने असीम चातुर्य बल से मनुष्य-जाति को जो अद्भुत नैसर्गिक उपकरण दिये हैं वे सदैव सिद्धही रहते हैं । जिह्वा, दन्तपंक्ति और वर्णोच्चार के कण्ठ ताल्वादि स्थान प्रभृति साधन प्रकृतिसुलभ होनेके कारण वे वक्ता के इच्छामात्र की मार्ग प्रतीक्षा किया करते हैं । अपर कलाओं के उपकरणों की नाई इन्हें सुसज्जित करने के हेतु दीर्घसमय परिश्रम और स्थलकालादि की अनुकूलता की भी आवश्यकता नहीं रहती । इसके व्यतिरेक वे काल की कुटिलता से भी मुक्त है अर्थात् अन्यसाधनों को समय का हेरफेर दबा सकता है पर वक्तृता के उक्त साधनों को वह किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचा सकता, यही कारण है कि बहुधा वे वक्ता के जीवनकाल लों उसके सहायक बने रहते हैं । उक्त प्रतिपादनद्वारा वक्तृता के उपकरण की उत्कृष्ट अनुकूलता स्पष्टरूप से निर्धारित होती है । दूसरे इसके विषय में यदि यह भी कहा जाय कि इतर कलाओं की नाई इसका अभ्यास बहुत श्रमदायक नहीं है तो भी कुछ अनुचित न होगा क्योंकि वक्तृता तो केवल बोलचाल का काम है । पर इसका तीसरा साधन तो उक्त दो की अपेक्षा अधिक आश्चर्यजनक है । वह ऐसा कि नित्य की बोलचाल और व्यव-

हार में इस गुण का योंही उत्कर्ष होते रहता है अर्थात् नित्य की वातचीत वा इष्टमित्रों के साथ वार्त्तालाप करती वार सहज ही में प्रवचनशक्ति प्रयुक्त हो उसके भिन्न २ गुण अनायास उत्तरोत्तर वृद्धि लाभ करते जाते हैं। अपर कला में निपुणता संपादित करने के अर्थ जिस प्रकार निराली खींचाखींच में फंसना पडता है उस प्रकार इसमें नहीं फंसना पड़ता। इसमें तो एक पन्थ दो काज सधते हैं वे ऐसे कि व्यवहार का व्यवहार और अभ्यास का अभ्यास दोनों साथ ही साथ परिपक्व होते जाते हैं और फिरभी खूबी यह है कि परिश्रम तनिक भी नहीं जान पड़ता और उलटा मनोरञ्जन होते रहता है।

(५) तो इस प्रकार यह गुण और गुणों की अपेक्षा स्वभावसिद्ध होने के कारण अत्यन्त प्राचीनकाल से सबदेशों में निःसंदेह पाया जाता होगा; और पूर्व उल्लेखानुसार उसका सदा व्यवहार में प्रयोग होते रहने के कारण यहभी स्पष्टतया लक्षित होता है कि सब देश और सब काल में उसका अच्छी उन्नति को प्राप्त होना बहुत कुछ सम्भव है। साथही यह भी कहना पड़ता है कि ज्ञानसंपन्नदेश में उक्त गुण जिस रूप से दृष्टिगत होगा वैसा वह अज्ञान लोगों के देश में नहीं दीखपडेगा। अर्थात् भूतपूर्व बड़े बडे वक्ताओं की वक्तृताओं में वा अब इधर की वक्तृताओंमें जैसे शब्दलालित्य, अलंकार और विषयानुकूलतादि गुण पाये जाते हैं वैसे उनकी वक्तृता में नाममात्र को भी नहीं पाये जाते प्रत्युत कभी २ अपशब्दों की अधिकता और विषयविभाग की व्यवस्था में भी बहुत गडबड पाई जाती है। सभा में उपस्थित हो उस समय उसे जो कुछ सूझपडेगा वही उक्त वक्ता बोलेगा। सारांश पहिले वक्ता की वक्तृतामे

रसिकता, कोमलतादि गुण जितनी अधिकता के साथ पाये जाते हैं; वैसे वे दूसरे की वक्तृता में नहीं पाये जाते उनमें प्रायः उद्दामताही पाई जाती है, और वह इतनी अधिक रहती है कि स्थल विशेषपर कोमल चित्तवाले मनुष्य को उसके श्रवण करने में बहुत कष्ट बोध होता है और वह उसे अत्यन्त कर्णकटु जान पड़ने लगती है। इस प्रकार उक्त दोनों वक्तृताओं में स्थूलरूप से आकाश पाताल का अन्तर भलेही जानपड़े पर वक्तृता का बीज जो मोहकता सो दोनों में गर्भित रहती है; अतः पहले पुरुष की प्रवचनपटुता के अर्थ जिस प्रकार वक्तृतासंज्ञा चरितार्थ होती है उसीप्रकार दूसरे के लियेभी वह घटित होसकती है। दोनों में यदि कुछ भेद रहताही है तो वह वैसाही रहता है जैसा कि पुरस्त्री और वनस्त्री की रमणीयता में दृग्गोचर होता है। अर्थात् दोनों का प्राकृतिक सौन्दर्य वास्तव में समानही रहताहै पर पहलीको हीरा मोती और सुवर्ण के आभूषण तथा बढ़िया वस्त्रोंद्वारा जैसे विशेष शोभा प्राप्त होती है, और उसकी बोलचाल का ढंग उत्तम प्रकार का होनेके कारण नागरिक रसिकों को उससे अधिकतर प्रसन्नता होती है, ठीक वही बात पहली वक्तृता की है। पर जो सच्चा रसिक और मार्मिक है, जो अन्तरङ्ग गुणों का अनुसंधान करने में परम चतुर है उसे दूसरी वक्तृता भी पहली की नाईही मुग्ध करडालती है, सुतरां प्रकृति सुलभ सुन्दरता के कारण उसे वही अधिकतर अभीष्ट होती है। इसके उदाहरण स्वरूप में राजा दुष्यन्त की बात कही जा सकती है कि जिस प्रकार महर्षि कण्व के तपोवन में वास करनेवाली शकुन्तला का वल्कलाच्छादित मुग्धलावण्य और अप्रगल्भताहि अन्तःपुरवासिनी स्त्रियों की समुज्ज्वल वेषरचना तथा नाट्याचार्य

शिक्षित अङ्गविक्षेप की अपेक्षा उसे विशेष आह्लादप्रद हुई।

(६) अब इस बात की आलोचना की जाती है कि पुरा भारतवर्ष में वक्तृता किस रूप से थी और अब इधर उसने कौनसा रूप धारण किया है और संप्रति वह किस नवीन रूप में पाई जाती है। अपने देश की प्राचीनकालीन वक्तृता के विषय में कोई बात निश्चित करने के लिये यद्यपि कोई प्रमाण विशेषरूप से उपलब्ध नहीं होते तथापि यह कहना अनुपयुक्त साहस न समझा जायगा कि उस समय भी लोगों को वक्तृता का चाव और उत्साह था। पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों में वक्तृता गुण की अधिष्ठात्री भगवती सरस्वती का वर्णन स्थान स्थानपर उपलब्ध होता है, और सुरगुरु बृहस्पति की भी इसी गुण के सम्बन्ध से विशेष प्रशंसा पाई जाती है, और आजकल जब कभी हम किसी मनुष्य को अच्छा वक्ता कहा चाहते है तो उसके बोधार्थ उक्त शब्दका ही प्रयोग करते हैं, इत्यादि बातों द्वारा उक्त बात के प्रमाणित होनेमें कोई संदेह नही रहने पाता। उसी प्रकारसे 'वाग्मी' 'वाग्वर' प्रभृतिशब्दों के प्रयोग 'रामायण' के समय से पाये जाते हैं, यहभी उक्त-बातही को दृढ़रूप से प्रमाणित करता है। इसके सिवाय इस बात में तो कोई शङ्काही नहीं उपस्थित होती कि जिस समय संसार के अपर देश अज्ञान की गाढ निद्रामें घुर्राटे भर रहे थे और जब भारत में धर्म और जनव्यवस्थादि के सम्बन्ध से सैकड़ों हेरफेर हो नये मत, नूतन दर्शन नवीनपन्थ आदि के विषय में घोररूप से आंदोलन होते रहता था तब यह गुण हमारे देश में विशेपरूप से जागृत होगा। ब्राह्मण, जैन, बौद्ध और चार्वाकप्रभृति लोगों के धर्मविषयक वादविवादों, और नैयायिक, मीमांसक, सांख्यवादी आदि के

पदार्थमात्र विषय के सूक्ष्म विचारों की जिस समय चारों ओर बहुत चर्चा हुआ करती थी उस समय अनेक नामी वक्तागण हुए होंगे ऐसा कहना स्यात अनुचित न होगा। अब इसपर कोई यह शङ्का करे कि उक्त बात का ग्रन्थों में न तो कहीं कुछ आधारही मिलता है और न अपर युक्तियुक्त प्रमाण ही उपलब्ध होता है ऐसी दशा में वह सत्य होगी यह कैसे मानलिया जावे, तो उसके उत्तर में हम यह कहते हैं कि उक्त उल्लेख के लिये केवल अनुमानही सुदृढ़ प्रमाण है, मिश्रदेश के पर्वतप्राय विशाल सूच्यग्रस्तम्भों को (मीनारों को) देखकर वा दाक्षिण प्रान्तकी भव्य एवं विस्तीर्ण श्रेणीको देखकर प्राचीन मिसरी लोगों तथा आर्य लोगों का बुद्धिसामर्थ्य जिस प्रकार अनुमानसिद्ध प्रतीत होता है, उसीप्रकार से उक्त वक्तृता के विषय में यद्यपि कहीं कुछ आधार नहीं मिलता तौभी उसकी स्थिति मानलेने में कोई बाधा नहीं है। क्योंकि जिस समय आजकल की मुद्रणकला की नाई ग्रन्थ प्रकाशित करने का साधन अनुकूल न होने के कारण पूर्वपक्ष उत्तरपक्ष के वाद विवाद जो होते थे सो प्रायः वार्तालाप द्वाराही हुआ करते थे ऐसी दशा में निःसंदेह लेखन कला की अपेक्षा वक्तृताचातुर्यकोही अत्यन्त उत्तेजना और प्रोत्साह मिला होगा। जिन वादविवादों को हुए आज अनुमान दो सहस्र वर्ष बीत चुके हैं पर तौभी 'शंकराचार्य' 'मण्डनमिश्र' 'कुमारिलभट्ट' प्रभृति के नाम केवल जनश्रुतिपरंपरा के प्रवाहद्वारा हमलों आ पहुँचे हैं, और जिनका परिणाम ऐसा विशाल हुआ कि आधे एशिया महादेश में नूतन धर्म का

प्रचार हुआ * वह वाक्पाण्डित्य कैसे प्रभावोत्पादक होंगे उसका विवेकी पाठक सहजही में अनुमान कर सकते हैं! तात्पर्य यह है कि प्राचीन भारत में इस गुणकी स्थिति थी यह बात प्रमाणित करनेके लिये यद्यपि प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं मिला तौ भी वह अनुमान से सिद्ध होता है। यह अनुमान की बात वक्तृता की नाई और कलाओं के लिये भी चरितार्थ होती है। जैसे नाट्य कला और चित्रकारी। इन कलाओं के सम्बन्ध से अपर देशों की प्रशंसा होते समय हमारे देश का नामोच्चारण लौं नहीं किया जाता। ग्रीसदेश में राशस नाम का एक सुविख्यात नट होगया है; और अनुमान सौ वर्ष के पूर्व उसकी बराबरी का गेरिकनाम का एक नट इंग्लैंड में हुआ है। हमारे यहां साफोक्लीज और शेक्सपियर की बराबरी के नाटक कर्तागण हुए हैं इस बात का पता तो लगता है पर उक्त नटों कैसे नट हुए हैं वा नहीं इस बात का कुछ भी पता नहीं चलता। उसी प्रकार से ग्रीसदेश में आपिलीज इटाली में रेफील और इंग्लैंड में जानसन के परम मित्र रेनाल्डसप्रभृति बडे निपुण चित्रकार हुए हैं। पर प्राचीन काल में हमारे देश में कोई बडा चित्रकार था ऐसी बात कहीं भी श्रुतिपथ में नहीं आती। पाठक! विचारिये तो इन दो अभावों का कारण क्या हो सकता है? जिस हमारे देश में 'शाकुन्तल' 'उत्तर रामचरित' 'मृच्छकटिक' कैसे

* इतिहासप्रिय लोगों से यह बात छिपी नहीं है कि वैदिक और बौद्ध धर्मावलम्बी लोगोंमें प्राटेस्टट और क्याथेलिक पन्थानुयायी लोगों के समान दीर्घ काल लौं वादविवाद होता रहा और अन्त में बौद्ध धर्मका पराजय हो उसे लङ्का, तिबेट और चीन आदि देशों में जाना पड़ा। बौद्धों की सख्या अनुमान मनुष्यजाति की संख्या के आधे के लगभग है। सुमात्रा, जावादि द्वीपों में अभीलों हिन्दुधर्मके चिह्न पाये जाते हैं।

नाटकों की सृष्टि करनेवाले कविगण समुत्पन्न हुए उसी हमारे देश में उन्हें उत्तम प्रकार से अभिनीत करनेवाला क्या कोई भी नट नहीं हुआ? वैसेही अशोक, चन्द्रगुप्त, विक्रमादित्य और शालिवाहन सदृश महान् पृथ्वीपति जब शासन करते थे और बहुधा प्रत्येक संस्कृत नाटक में चित्रपट, आलेख्य और तूलिकादिका सदा वर्णन आया करता था तब क्या जगद्विख्यात कोई भी चित्रकार नहीं हुआ? हमारे विवेकी पाठकों के ध्यान में यही बात आवेगी कि उक्त दोनों बातें असंभव है; और जबकि हमारे देवोपम पूर्वपुरुषों ने अपर कला और विद्या में असामान्य कीर्ति संप्राप्त की तब यह कब संभव है कि उक्त दोनों कलाओं में उन लोगों ने कुछ भी पूर्णता न प्राप्त की हो! अब इस पर कोई यह प्रश्न करे कि अच्छा हमने मानलिया कि उन लोगों ने उक्त दोनों कलाओं में बहुत कुछ पूर्णता और निपुणता प्राप्त की थी पर फिर वह ऐसी निःशेष क्यों होगई कि उनका पीछे कुछ पता निशान तक न रहा, तो उसका उत्तर यही हो सकता है कि उक्त दोनों कला और वक्तृता ये ऐसी कला हैं कि जो निसर्गतः अचिरस्थायिनी अर्थात् दीर्घकाल लों न ठहरनेवाली है। मानलो कि किसी उत्कृष्ट नट ने बहुत उत्तम अभिनय किया पर उसे चिरस्थित करदेनेके लिये उसके पास कोई साधन है क्या? वह जबलों रंगस्थल पर विद्यमान है तभीलों उसकी चतुरता देख लीजिये। क्या कोई यह बात कह सकता है कि जिस प्रकार से किसी शिल्पी की बनाई हुई कोई वस्तु दीर्घकाल लों रह सकती है वा किसी उत्तम कवि का रचा हुआ काव्य एक बार लिपिबद्ध होचुका तो जगत्प्रलय पर्यन्त उसकी रक्षा हो सकती है उसी प्रकार से उक्त अभिनेता

की कृति भी चिरस्थित हो सकती है। हां बहुतही हुआ तो वह उसकी जीवनयात्रा लों लोगों के मनोरञ्जन का कारण अवश्य हो सकती है । उसका जीवन शेष होतेही उसकी समस्तकला उसके साथही शेष हो जाती है । जो मूर्ति एकवार की लुप्त हो जाती है सो पुनः नहीं दीखपड़ती । ठीक यही बात चित्रकार कीभी होती है । चित्र का आधार जो कागज़ वस्त्र वा भीत जबलों बने रहते है तभीलों चित्र की स्थिति रहती है; इसके सिवाय रंगकी चमक दमक तो उक्त आधार की अपेक्षा और भी शीघ्र नष्ट होजाती है । कालचक्रानुसार संसार में प्रकृति-देवी हेरफेरकी आज्ञा दिया करती है, उस समय वह महान् चित्रकार की ओर ध्यान देकर आज्ञा देती हो सो तो कुछ हैही नहीं । ग्रीसदेश का आपिलीज नाम का चित्रकार जिसका कि पीछे उल्लेख हो चुका है, उसके उतारे हुए चित्र ‡ अब कहीं

---

‡ उक्त चित्रकार सिकन्दर बादशाह का आश्रित था । यह विद्यासम्पन्न होने के कारण बादशाह इससे बहुत स्नेह मानते थे । इतिहास में इसके सम्बन्ध में कई आख्यायिका प्रसिद्ध हैं । उनमें से यहा पर दो लिखी जाती हैं । एक बार, उक्त राजपुत्र अपने स्नेही की चित्रशाला में गया । वहा पर अनेक चित्र प्रस्तुत हो गये थे और अनेक प्रस्तुत हो रहे थे । सिकन्दर- बादशाह को चित्रकारी का विशेष ज्ञान न होनेपर भी उसने अपने अतुल राजविभव के अभिमान में मग्न हो वहा के चित्रों में कुछ न्यूनता प्रदर्शित की । उत्तर में आपिलीज ने कहा मित्र ! जरा धीमे स्वर से बोलिये, क्योंकि उस ओर जो लड़के रंग घसते बैठे हैं वे आपकी बात सुनकर हँसी करेंगे । इस उत्तर से सिकन्दर को बहुत लज्जित होना पड़ा था । दूसरी बात यह है कि, उक्त चित्रकार ने सिकन्दर के प्रसिद्ध बुसेफेलुस् नाम के घोडेका उसीके नाप का चित्र उतारा था । यह ऐसा सर्वाङ्ग सुन्दर बना था कि इसे देख कोई सहसा चित्र नहीं कह सकता था । सिकन्दर ने उक्त चित्र की नाईं इसमें भी कुछ दोष प्रदर्शित किये, इस बार आपिलीज़ ने उसे उत्तर तो कुछ भी नहीं दिया पर उसके उक्त घोड़ेको वहा उपस्थित करनेके लिये अनुरोध किया । उसका उक्त घोड़ा ज्योंही वहा आया और उसने उक्त चित्र को देखा त्योंही उसे अपने सरीखा घोड़ा जान वह हिनहिनाने लगा । तब आपिलीज़ ने सिकन्दर से कहा कि आपकी अपेक्षा आपके घोड़ेको चित्रकारी का ज्ञान विशेष है ॥

उपलब्ध नहीं होते इसका कारण भी उक्त कारण से भिन्न नहीं है; और यही बात उक्त देश के मूर्तिकारों के विषयमें भी कही जा सकती है क्योंकि वहां के मूर्तिकारों की ख्याति आजपर्यन्त जैसी बनी है वैसी चित्रकारों की नहीं है। तो इससे यही निर्धारित होता है कि जिन लोगों की कृति तुरन्तही वा थोडे काल के अनन्तर नष्ट होनेवाली रहती है उनके दृष्टिपथ से बहिः होतेही उनके विषय में यह कहना कि अमुक २ देश में उनकी स्थितिही न थी युक्तिसंगत नहीं जान पडता। ठीक यही बात वक्तृता की भी है। पहले तो अभी इधर जबलों संक्षिप्तलिपि की प्रथा यूरोपमें भी आविष्कृत नहीं हुई थी तबलों महान् वाग्मी की वक्तृता तत्क्षण लिखलेने का साधन अनुकूल न था। दूसरे, कई वक्तृता ऐसी होती हैं कि जिनकी उपयोगिता प्रसंग विशेषसे ही सम्बन्ध रखती है; यह यहां लों कि कुछ काल के अनन्तर वही वक्तृता पुनः श्रवण की जॉय वा पढी जॉय तो अत्यन्त नीरसबोध होने लगती है। और तो क्या पर पूर्वोल्लिखित शेरिडयान् नाम के वाक् पण्डित की जिस वक्तृता ने उस समय लोगों के मनपर प्रबल संस्कार किया था और जिसे स्वयं फाक्स साहिब ने एक प्रसंगपर परमोत्तम कहा था * वही आज पढ़ी जाती है तो उसमें वैसा अद्भुत गुण कुछ भी लक्षित नहीं होता। डिमास्थनीसकी भी थोडीसी सर्वप्रसिद्ध वक्तृताओं के व्यतिरेक अपर सब वक्तृताएं अब ऊपर कैसीही शुष्क एवं

---

* हमारे मननशील पाठकों को पिछले अङ्कमें फाक्ससाहिब का परिचय मिलही चुका है। किसीने एकबार इनसे यह पूछा था कि आपने इतने दिनों से पार्लिमेंट में अनेक वक्तृताएं सुनी है तो कहिये उनमें से सर्वोत्तम आप किसे मानते हैं। उत्तर में आपने कहा कि बेगमों के सम्बन्ध से दी हुई शेरिडयान् की वक्तृता को ॥

नीरस मानी जानी लगी हैं। इसका कारण स्पष्टही है। अन्न के ठंढे होजाने पर जैसे उसकी रुचि/जाती रहती है वैसेही किसी प्रसङ्ग विशेष पर जो वक्तृता लोगों को रुची हो वही उक्त अवसर के बीतजाने पर पुनः पहले कैसी लोगों को क्योंकर रुच सकती है? और इसके अतिरिक्त वक्तृता के स्वयं श्रवण करने और पढ़ने में भी बहुधा बहुत अन्तर पड जाता है। महान् २ वाक्पण्डितों की वक्तृताओं में तो उक्त भेद बहुतही पाया जायगा, क्योंकि वक्तृता अर्थात् खड़े होकर बोलदेना इतनाही नहीं है; तो ऊंचे और चित्ताकर्षक स्वर, अङ्गविक्षेपोंकी चञ्चलता और चपलता, मुखमण्डल पर भिन्न २ मनोवृत्तियों का आविर्भाव, और इसके सिवाय अपर छोटी मोटी बातें आदिके सम्मेल को वक्तृता कहते हैं †। इसके सिवाय वक्तृता स्थल की शोभा, सब श्रोताओं की सजधज आदि द्वारा पहलेहीसे प्रसन्नहुए चित्त पर वक्ता की वक्तृता का जैसा उत्तम संस्कार हो सकता है वैसा केवल शुभ्रपर काला किये हुएको पढ़कर नहीं हो सकेगा यह स्पष्टही है। और तो क्या पर केवल सुनने और पढ़ने की क्रियाओंमें भी सुखके सम्बन्ध से बडा भारी अन्तर रहता है। पढ़नेसे जैसे तत्क्षण जी उकता जाता है वैसा सुनने से नहीं उकताता। साराश वक्तृत्व सभाकी सजावट को देख स्वयं वक्तृता सुनने और उसे दूसरे दिन वा फिर कभी समाचार पत्रों वा ग्रन्थों में पढ़ने में बहुतही अन्तर पड़जाता है।

† एक बार डिमासथेनीससे किसीने पूछा कि वक्ता के लिये नितान्त आवश्यक बात कौनसी है। उत्तरमें उसने कहा "नाट्य" और दूसरी-"नाट्य" भला तीसरी-"नाट्य" इस कलामें विलियमपिट कैसे निपुण थे सो मेकाले साहब के तद्विषयक निबन्धद्वारा भली भांति ज्ञात होता है।

तिसमें भी लौकिक प्रसंगविशेष के कारण लोगों के मन उद्विग्न हो जाते हैं उस समय वक्तृता का जैसा प्रभाव होता है वैसा आगे उस समय के बीत जानेपर नहीं होता। अभिप्राय यह है कि जैसे कमलपत्रस्थ जलविन्दुको मोतीकी शोभा प्राप्त होती है, वा सायंकाल के समय भगवान् सूर्यदेवकी कोमल एवं सुनहरी किरण समूह के संस्कार से पाश्चात्य मेघों को अनोखी शोभा प्राप्त हो विलक्षण दृश्य दृष्टिगत होता है, वैसे ही प्रसंगविशेष की वक्तृता की शोभा और उसका प्रभावही कुछ चमत्कृति-जनक होता है। मनकी वह दशा उस समय के साथ ही लुप्त हो जाती है। कहो कैसे? तो जिस प्रकार से उक्त मेघमण्डल क्षणभर अपनी अपूर्व शोभा दिखा सूर्य के अस्ताचलावलम्बित होतेही अधिकतर कान्तिहीन और निस्तेज दीख पडने लगताहै।

उक्त प्रतिपादन से हमारे विचारवान् पाठकों को यह बात लक्षित हो चुकी होगी कि महान् २ वक्ताओं की वक्तृता भी लिपिबद्ध करने से नीरस हो जाती हैं। यही समझ उनका संग्रह करने के लिये किसीने उद्योग न किया हो यहभी संभव जान पडता है। इसके सिवाय यहभी बात विचारार्ह है कि प्राचीनकाल में हाथ से ग्रन्थ लिखने के कठिन परिश्रम से बचानेवाला मुद्रणकला का साधन भी अनुकूल न था। यही सब कारण है कि जिनके अभाव के कारण हमारे देश की प्राचीन वक्तृता का आज हमें कुछभी खोज पता नहीं लगता और यह सब ठीकही हैं। ग्रीक और रोमन लोगों की नाई इति-हास लिख रखने की यदि हमलोगों में प्रवृत्ति होती तो निदान आज इतनी थाह तो अवश्यही लगजाती कि अमुक २ समयपर अमुक २ प्रसग के कारण अमुक २ पण्डित अपनी धाराप्रवाह

सी वक्तृता के कारण बहुत विख्यात हुआ है। पर इतिहासो के अभाव के कारण आज दिन, हमें वहभी आधार अनुकूल नहीं है। एतावता इस कला की स्थिति, केवल अनुमानसेही सिद्ध करनी पड़ती है। उसके लिये प्रत्यक्षप्रमाण स्वरूप में कुछभी नहीं उपलब्ध होता। तौभी जिस प्रकारसे किसी अरण्य में, चारोंओर राख और कोयलेके ढेरको देख प्रत्यक्ष दावानल की ज्वाला देखनेकी कोई आवश्यकता नहीं रहती वा, धरती में खचित कियेहुए वाड़े और ऊपर आयेहुए कूपों को देख प्रत्यक्ष भूमिकम्प देखने की कोई आवश्यकता नहीं रहती, वैसेही आधे एशिया महादेश में फैलाहुआ भारत का धर्म और उसके पुराकाल के अनेकानेक पथ तथा भिन्न २ मत आदि प्रत्यक्ष वक्तृत्व ग्रन्थों की अपेक्षा इस कला के विषय में विशेष निर्णायक माने जा सकते हैं।

(७) यहां लों प्राचीन काल के विषय में इस गुणके सम्बन्ध से आलोचना की गई। अब मध्यकाल अर्थात् प्राचीन और वर्तमानकाल के बीच के काल के विषय में विचार करते हैं। इस कालके विषयमें भी पिछले काल की नाईही, कुछ प्रमाण नहीं मिलते। तौभी हमारे देश के एक भाग के विषय में निदान एक दो शताब्दीपर्यन्त का वृत्तान्त लिखने के लिये हमें बहुत कुछ सामग्री मिल सकती है। यह भाग महाराष्ट्रदेश और उक्त शताब्दी इसके पूर्व का समय मानना चाहिये।

(८) हमारे ग्रन्थावलोकनप्रिय पाठकों को विदितही होगा कि, उक्त देश का पुरातन विभव नष्ट हो कई शताब्दी वीत जानेके अनन्तर एक प्रदेश के लोगों ने, एकबारगी सिर ऊपर उठाया था और अल्पकाल में ही सब देश अपने अधिकार में

करलिया था। आर्यलोगों का धर्म उनकी विद्या और उनके आचारादि लुप्त होजाने का जो कठिन अवसर प्राप्त हो गया था वह दूर होजानेका कारण उक्त समय का उक्त लोगों का उत्कर्षही कहा जा सक्ता है। इन अतुलपराक्रमी लोगों ने सम्पूर्ण देशमें जो स्थान स्थानपर तालुके और बड़े २ राज्यों की स्थापना की उनके योग से यवन और म्लेच्छों के उच्छेदनद्वारा आर्यों के धर्मादिकों पर जो ग्लानि छाती जाती थी वह नष्ट हो मानों आर्यों का पुनरुज्जीवनही हुआ था। हमारी प्राचीनविद्या और कला को उत्तेजना मिल हमारे गत विभव की कान्ति और शोभा हमलोगों को पुनः बहुत कुछ प्राप्त हुई। इसीके साथ २ बड़े २ राज्यों में पाये जानेवाले धैर्य, साहस, शूरता, सत्यप्रियता और बुद्धि की प्रगल्भतादि भिन्न २ समुज्ज्वल गुणों की भी उन्नति हुई।

इनके प्रमाणस्वरूप में जो उदाहरण महाराष्ट्रदेश के इतिहास में उपलब्ध होंगे उनसे अधिक विश्वासपात्र उदाहरण किसी अपर प्राचीन वा अर्वाचीन देश के इतिहास में न मिलेंगे। अस्तु; वक्तृता भी उक्त गुण मालिका में सेही एक है। जिन लोगों ने मराठों का इतिहास सविस्तर पढ़ा होगा, और जो लोग उनके देश के गत सौ वर्ष की दशा पर सम्यक् विचार करेंगे उन्हें उक्तगुण की स्थिति के विषय में अणुमात्र भी शङ्का न रहेगी। पीछे हम यह बात कही आये हैं कि प्राचीन ग्रीस और रोमके इतिहास से वक्तृता का जो अर्थ लगभग समस्त संसार ने ग्रहण किया है, और जो अर्थ अब इधर हमारे देश में भी सर्व साधारण में समझा जानेलगा है, वह उक्त शब्द का केवल एकदेशीय अर्थ है। वक्तृत्व सभा में उपस्थित हो तत्रस्थ श्रोतागणों को

'भारत माता के पुत्रगण' 'मित्रगण' 'देश भाइयो' आदि सच्चे झूठे कुछभी सम्बोधन कर बड़े गम्भीर स्वर और भाषाके अनर्गल प्रवाहसे प्रोत्साहनोत्पादक वाक्पाण्डित्य को जैसे वक्तृता कहते है; वैसेही रणक्षेत्रस्थ शूरों प्रति कहे हुए सेनानायक के वीर्योत्साह प्रेरक शब्द, वा देवालय में धर्मोपदेशककृत धर्मविषयक व्याख्यान, वा विज्ञ पिता घर गृहस्थी के विषय में अपने पुत्र को जो उपदेश करे, इत्यादि सब उक्त वक्तृता की अपेक्षा किसी प्रकार से ऊन नहीं जान पडते। जो गुण पण्डितसमाज में झलकेगा वही उक्त प्रसंगों में भी पाया जायगा। सुवर्ण और रजत की प्राकृतिक योग्यता जानने के लिये यथार्थ परीक्षक के समीप जैसी उनपर सिक्के की आवश्यकता नहीं रहती और वह तत्क्षण उनकी योग्यता जानलेता है उसी प्रकार से संसार के सामान्य व्यवहारों में भी सच्चे मर्मज्ञ को उक्त गुण का आविर्भाव तुरन्तही ज्ञात होजाता है। तात्पर्य यह है कि पेशवाओंकी पुरानी राजधानी में और अन्यत्र यद्यपि वक्तृता के लिये आथेन्स और रोमकी नाई बड़े २ विशाल सभामन्दिर नही बनाये गयेथे, और ह्रोड्सद्वीपके सदृश वहां उस कला की शिक्षा देनेके लिये पाठशाला नहीं खोली गई थीं तथापि इसमें तिलमात्र भी संदेह नही है कि उक्त गुणकी स्थिति उक्त राजधानी में अनेकरूप से थी। इस कथनकी यथार्थता निम्नलिखित लेख से और भी स्पष्ट होजायगी।

(९) यदि यह सत्य है कि मनुष्य की कार्यदक्षता देख उसके भिन्न २ गुणों का अनुमान किया जा सकता है, तो हम समझते हैं कि जिस महान् पराक्रमी पुरुष ने हिन्दुओं को दास्य मुक्तकर अनुमान सौ डेढ़ सौ वर्ष लों उन्हें स्वतन्त्रता के सुख और राज-

विभत्र का अनुभव कराया उसमें वक्तृता गुण निःसंदेह होगा। इसके पूर्व सिकन्दर प्रभृति जो अनेक रण धुरन्धर महान् विख्यात शासनकर्ता हो गये हैं उनमें से बहुतेरों की राज्यसाधन सामग्री उनके पूर्वजों नेही पहले प्राप्त कर रक्खी थीं। एतावता सिकन्दर, सीजर नेपोलियन आदि राज्यकर्ताओं की बात ठीक वैसीही हुई जैसे किसी शिल्पी को उत्तम प्रकार के सब हथियार प्रस्तुत करदेनेपर वह अपनी कार्यकुशलता दिखला सके। पर जिसने मराठी राज्य की नींव डाली उसे समस्त राज्य विश्वकर्मा की नाई नूतनही बनाना पड़ा था। उसके पास राज्य प्राप्ति के साधनों में से यदि कोई सामग्री थी ही तो वह उसके वज्र समान सुदृढ़ एवं हृष्टपुष्ट शरीर और विशालबुद्धि के अतिरिक्त और कुछ न थी। जिन मालवी लोगों की किसानी, और मजदूरी करते २ अनेक पीढ़ी बीत गई थीं, और जिन्हें अत्यन्त भोले एवं भीरु होने के कारण बिना चीं चपड़ किये पर राज्य का अत्याचार सहन करनेकी टेंव पड़ गई थी, उन्हींके स्वभाव को शिवाजीने इस प्रकार परिवर्तित करादिया कि वे अभिमानी यवनों से साहसपूर्वक लड़नेके लिये समर्थ हुए। और तो क्या पर जिन लोगों को अपने धर्म, देश आदि की दशा का तनिक भी परिज्ञान न था उन्हें उसने यवनों का ऐसा विरोधी और अपना अनुयायी बना लिया कि उन लोगों ने रणोत्साहित हो अपना सिर हथेली पर ले प्राणपण से उसकी आज्ञा का पालन किया। सिंहगढ पर कल्याण फाटक के निकट जो दुर्घटना हुई कि जिसका स्मरणमात्र करनेसे शरीर रोमाञ्चित हो कम्पायमान होने लगता है सो इतिहासज्ञ लोगों को विदितही है। साराश शिवाजी ने मालवी लोगों को जो अपने वस करलिया था सो उन्हें द्रव्य के लालच

वा अन्य साधनद्वारा नहीं किया था किन्तु अपनी वाक्पटुताद्वारा किया था। भोलेभाले ग्रामीण मालवीलोगों को अपने वश में करलेने के लिये शिवाजी ने उक्त गुण जिस प्रकार प्रदर्शित किया उसी प्रकार से विजापुर दरवार के अनुभवी वकील से बातचीत कर उसपर अपना दर्प स्थापित करने तथा आगे मुगल सरदारों को अन्तरङ्ग अपने पक्ष का कर लेने में भी उसने उक्त गुण प्रकटित किया था। तात्पर्य महाराष्ट्रदेश के इतिहास में पहला वक्ता शिवाजीही पाया जाता है जो कि उक्त इतिहास का मुख्य आधार स्तम्भ है। उक्त इतिहास में दूसरा वक्ता वाजीराव पाया जाता है कि जिसने मराठी राज्य का अधःपतन देख अपनी बुद्धि और पराक्रम के वलसे उसे संभाला और मुगल, पठान, मराठे और फिरंगी आदि को ब्राह्मणों की शूरता और आतङ्क से भयभीत और कम्पित किया। यह पेशवा सैनिक और राजकाजदक्षतादि बहुतेरी बातों में शिवाजी की समता पा सकता है और महाराष्ट्रदेश के सारे इतिहास में शिवाजी के अतिरिक्त और कोई इससे श्रेष्ठ नहीं पाया जाता। मराठों का इतिहास लिखनेवालों ने इसके वक्तृत्व गुण का उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। उक्त उल्लेख के सिवाय और उसने शाहू महाराज को जैसा कुछ अपने चुङ्गल में कर रक्खा था आदि बातों से वक्तृता गुण उसे किस प्रकार से अनुकूल था सो स्पष्टरूप से जान पड़ता है। इतिहास जाननेवाले लोगों को यह विदितही होगा कि आदि में पेशवाने तो पेशवाई का अधिकार अपनी वाक्पटुता के वलसेही प्राप्त किया था। यह बात भी इतिहास में प्रसिद्धही है कि जब आंग्र्या ने घोर उपद्रव सातारा पर भी आक्रमण करना विचारा था तब बालाजी ने बड़ी चतुरतापूर्वक उससे संधि की बात चीतकर

अन्त में उसे बिलकुल अपनासा कर उलटा शाहूसेही कर दिवांना उससे स्वीकृत करालियाथा। वैसेही प्रत्येक अवसर पर शाहू को चतुरतापूरित मन्त्रणा देनेवाला और अतिविकट प्रसंगपर प्राणपण से उसे साथ देनेवाला मन्त्री उक्त पन्तही था। यह पेशवा घोड़ेपर सवारी किस उत्तमता के साथ कर सकता था सो भी ग्रन्थावलोकनप्रियलोगों से छिपा नहीं है—जब आप घोड़ेपर सवार होते थे आपको संभालने के लिये दोनों ओरसे दो परिचारकों की आवश्यकता होती थी! तौभी दिल्ली पर्यन्त आपने विजय लाभकर, अपनी अन्तिम चढ़ाई में, स्वराज्य चौथाई और सरदेशमुखी आदि हकों की बादशाही सनदें प्राप्तकर अपने स्वामी को ला समर्पित कीं। इन सब बातों से यही बात निर्धारित होती है कि उक्त सब कार्यसाधन में उसे खड्ग की सहायता की अपेक्षा वाणी की रसालताही प्रधानतः उपयोगी हुई होगी। इस गुण के लिये पिछले अङ्क में पिऱ्हस राजा के जिस सिनियस मन्त्री का उल्लेख किया गया है उसकी उपमा इसे बहुतही युक्तिसंगत होगी। अस्तु; अब दूसरे पेशवा बाजीराव बल्लालकी वक्तृता का वर्णन करते है। शाहू के दरबार में समस्त मन्त्रीमण्डली की अपेक्षा उक्त पेशवा बडा हठीला था, देश देशान्तरों में मराठों की विजयिनी पताका जो फहराती थी सो इसीके प्रभाव से। उस समय श्रीपतिराव नाम का कोई प्रतिनिधि था, जो उसकी प्रभुता के डाह के कारण सदा उससे ईर्ष्या और द्वेष किया करता था। एक बार बाजीराव ने राजा से प्रार्थना की कि यदि आज्ञा हो तो मैं स्वयं हिन्दुस्तानपर आक्रमण करूं यह बात उक्त प्रतिनिधि को विदित होने पर उसने घोररूप से विरोधकर राजा को समझाया कि, बाजीराव की प्रार्थना राज-

नीति अनुमोदित नहीं है। साथही उसने राजा को यह सूचित किया कि कर्णाटक के जो देश अपने अधिकार से निकल गये हैं प्रथम उन्हें प्राप्त करनेके लिये उद्योग करना उचित है पश्चात् मुगलोंपर चढ़ाई करनी चाहिये। उत्तर में बाजीराव ने निवेदन किया कि यदि शिवाजी महाराज की बुद्धि प्रतिनिधि कैसी होती, तो उन्हें यह बात तत्क्षण सूझती कि पहले विजापुर और गोवलकोण्ड को विजय करलेना चाहिये और पश्चात् युक्तिपूर्वक कर्णाटक में पदारोपण करना चाहिये। पर आप बड़े अभिमानी साहसी, आपकी बुद्धि बड़ी विशाल; आपने एकवारगीही कर्णाटक विजय करलिया। इस प्रकार से पुराने एवं विस्तीर्ण वृक्ष के मूलपर कुठाराघात करने से उसकी समस्त शाखायें पतित हो नीचे आजायँगी यह जो उक्त प्रतिनिधि ने मंसूबा बांधा था उसका बाजीराव ने पूर्णरूप से खण्डनकर अन्त में शाहू महाराज से प्रार्थना की कि यदि श्रीमान् की आज्ञा होगी तो मैं कृष्णानदी से ले कटक नदीपर्यन्त कृपानाथ की विजयिनी पताका स्थापित करदूंगा। पेशवा की वीर्योत्साहयुक्त उक्त प्रार्थना को सुन शाहू महाराज तन्मय हो गये और श्रीमान् के हृदय में श्रीमान् के पितामह के वीरतादि गुणों का सञ्चार हो श्रीमान् ने गद्गदकण्ठ हो कहा " धन्य है, आपके पूर्वपुरुष बड़े उदारचेतस् थे, उनके सन्तान आप भी बड़े योग्य हैं।" हमको दृढ़ विश्वास है कि आप मराठों की विजयिनी पताका हिमालय के शिखर पर स्थापित करेंगे।

बाजीराव बल्लाल के पूर्व जो चार पेशवा सिंहासनारूढ़ हुए उनमें से उक्त दोनों की नाईं वाक्पटुता के विषय में किसीकी भी कहीं विशेष प्रशंसा उपलब्ध नहीं होती। अन्तिम पेशवा की प्रशंसा ग्रन्थों में अलबत्ते दीख पड़ती है। इन अन्तिम कुलाङ्गारको प्रायः

ब लोग भली भांति जानते है; इनके जघन्य कार्योंने केवल इन्हीं
के नाम को कलङ्कित नहीं किया है किन्तु इसने इनके पूर्वजों की
विमल कीर्ति कौमुदी को भी धब्बा लगाया है। पेशवाई की चर्चा
होतेही,—जिसने पूनापत्तन बसाया, जिसके भय एवं आतङ्क से
भयचकित हो नादिरशाह को पूना से पिछले पाव लौटना पड़ा, ※
जिसने सम्पूर्ण चन्द्र के समान पूर्णाधिकार प्राप्त कर यवन म्लेच्छ
प्रभृति द्वारा दीर्घकाललों संतापित जगती को मुहूर्तमात्र के लिये
शीतलता प्रदान की, जिसको नराधम दुरात्मागण साक्षात् काल
और सन्मार्गानुयायी पिता तुल्य धर्म का अवतार मानते थे, जिस
राजेन्दु को उन्नति के अनन्तर शीघ्रही दुर्भागरूप राहु ने ग्रसित
किया, जिस रणबांकुरे को खर्डाका विशाल विजय पराजय की
अपेक्षा अधिक दुःख का कारण हुआ—इन समस्त राज परंपरा
की सर्वथा विस्मृति हो, जिस सुन्दर सोहावने दिखाई देनेवाले
दुष्ट सांप ने कालियाके सदृश सबके जीवन हेतु राज्यस्वरूप दह
को अपने प्रबल विषसे तुरन्तही विषमय करडाला, दुर्जनरूप नक्रों
को उसमें आश्रय प्रदान किया, और अपनी मा के जीवित काल

※ उक्त उल्लेख को पढ़ हमारे पाठकों को प्राय आश्चर्यित होना पड़ेगा और हमारे विपक्षीलोग यह कहनेमें नेक भी न हिचकेंगे कि हमने यह निराधार प्रशंसा योंही लिखमारी है। लीजिये प्रमाण भी पढ़ लीजिये —

"The ravages of the Persians were confined to Hindustan, and their departure was hastened by fear of the Mahrattas, then ably ruled by Baji Rao, the second Peshwa"—*Martin's British India*-P. 6.

"If Baji Rao had been near Delhi when Nadir Shah arrived, it is not improbable that he would have joined the emperor in the defence of the empire, and could he have done so, or the Mahratta troops have been employed as auxiliaries, Nadir Shah's invasion would probably have had a very different conclusion"——

Taylor's Manual
P. 381.

के अन्तःकरण को शुद्ध जान उसने दो बार धोखा खाया। अन्त अन्त में माहुली में अङ्गरेजों से युद्ध करने की तैयारी जब हो रही थी उस समय जान्मालकम साहब से बाजीराव की जो बातचीत हुई थी तब भी उसी प्रकार से उसने उक्त साहब को यह विश्वास करा दिया था कि वह कम्पनी सर्कार का परम हितैषी है; उक्त साहब ने उसके विषय में केवल विश्वासही नहीं करलिया, किन्तु कलकत्ते को यह लिख भेजा कि ठग और पिण्डारियों का दमन करने में हमें पेशवा से बड़ीभारी सहायता मिलेगी। इस सहायता का अभिप्राय उक्त साहब बहादुर को अल्पकाल ही में मिलगया होगा। तीसरी बात गङ्गाधरशास्त्री की कही जाती है। उस भोलेभाले ब्राह्मण को लोग सदा यही मन्त्रणा दिया करतेथे कि आप पेशवा और त्र्यम्बकजी डोंगरा से बहुत बचे रहा करें; पर दोनों की कुटिल नीति को न समझ, कालपाशाकृष्ट हो उसनें उसके साथ पण्ढरपुर के लिये प्रस्थान किया। वहां पहुंचतेही उनके कपटपूरित आदर सत्कार से उसकी सुध बुध एकबारही जाती रही। सारांश जिस सरस्वती के प्रसाद ने ब्राह्मण बादशाही की नींव डाल, पहले पेशवा की कीर्ति को अधिकतर समुज्ज्वल किया वही अन्तिम पेशवा की कीर्तिको दूषित कर उक्त राज्य को मटियामेट करने का कारण हुआ।*

---

* सहृदय पाठकगण, इस लेख को स्वर्गवासी श्रीयुत विष्णुकृष्णशास्त्री चिपलूनकरजी ने लगभग छ निबन्धोंमें शेष किया है। उनमें से यहां लों दो निबन्धों का अनुवाद हुआ। इसे पढ़ यदि आपलोग प्रसन्न होंगे और समझेंगे कि शेष निबन्धों का अनुवादित होना आवश्यक है तो मैं उन्हें भी अनुवादितकर आप लोगों की सेवा में उपस्थित करूंगा॥